दैवत-संहिता ।

प्रथम भाग तैयार है। द्वितीय भाग छप रहा है ।

आज वेद की जो संहिताएँ उपलब्ध हैं, उन में प्रत्येक देवता के मन्त्र इधरउधर बिखरे हुए पाये जाते हैं । एक ही जगह उन मंत्रों को इकट्ठा करके यह **दैवत-संहिता** बनवायी गयी है। प्रथम भाग में निम्न लिखित ४ देवताए हैं-

देवता	मंत्रसंख्या	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डाकव्यय.
१ **अग्निदेवता**	२४८३	३४६	३) रु	।॥)
२ **इंद्रदेवता**	३३६२	३७६	३) रु	।॥)
३ **सोमदेवता**	१२६१	१५०	२) रु.	॥)
४ **मरुद्देवता**	४६४	७२	१) रु	।)

इस प्रथम भाग का मू. ५) रु. और डा. व्य. १॥) है।

इस में प्रत्येक देवता के मूल मन्त्र, पुनरुक्त मन्त्रसूची, उपमासूची, विशेषणसूची तथा अकारानुक्रम से मंत्रोंकी अनुक्रमणिका का समावेश तो है, परतु कभी कभी उत्तरपदसूची या निपातदेवतासूची इस भाँति अन्य भी सूचीयाँ दी गयी हैं। इन सभी सूचीयों से स्वाध्यायशील पाठकों की बड़ी भारी सुविधा होगी।

सपूर्ण दैवतसंहिताके इसी भाँति तीन विभाग होनेवाले हैं और प्रत्येक विभाग का मूल्य ५) रु. होगा । अर्थात् कुल मूल्य १५) रु होगा। परन्तु डा. व्य. सहित पेशगी मूल्य केवल १२) रु. है। इसपर भली भाँति सोचकर पाठक ऐसे दुर्लभ ग्रन्थ का संग्रह अवश्य करें। ऐसे ग्रन्थ बारबार मुद्रित करना संभव नहीं और इतने सस्ते मूल्य में भी ये ग्रन्थ देना असभव ही है।

शुद्ध वेद ।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

१ ऋग्वेद (द्वितीय संस्करण)	५)	डा० व्य० १।)
२ यजुर्वेद	२)	,, ,, ॥)
३ सामवेद	३)	डा० व्य० ।॥)
४ अथर्ववेद (द्वितीय संस्करण)	५)	,, ,, १)

इन चारों सहिताओंका मूल्य १५) रु होता है। परन्तु पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० ८॥) रु० है, तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिए डाकसे मगानेवाले ११॥) साढे ग्यारह रु० पेशगी भेजें।

यजुर्वेदकी चार संहिताएं ।

निम्नलिखित यजुर्वेद की चारों संहिताओं का मूल्य यह है- ।

१ काण्व संहिता (तैयार है)	३)	डा० व्य० ।॥)
२ तैत्तिरीय संहिता	५)	,, ,, १)
३ काठक संहिता	५)	डा० व्य० १)
४ मैत्रायणी संहिता (तैयार है)	५)	,, ,, १)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है, परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं १२) रु० में दी जायंगी। डाकसे मंगानेवाले १५।।) रु. भेजें।

मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

वैदिक धर्म

क्रमाङ्क २८५

वर्ष २४ : : : : अङ्क ९

भाद्रपद संवत् २०००

सितंबर १९४३

अज्ञान-निवारणसे पाप-नाश।

अप तस्य हतं तमः
व्यावृत्तः स पाप्मना।
सर्वाणि तस्मिन् ज्योतींषि
यानि त्रीणि प्रजापतौ॥

(अथर्व० १०।७।४०)

" इस (वैदिक ज्ञान से) जिस का अज्ञान दूर होता है, वह पापसे मुक्त होता है। तथा उस में वे सब ज्योतियाँ प्रकाशती रहती हैं, जो प्रजापति में तीनों ज्योतियां रहती हैं।"

अर्थात् परमात्मा में निवास करनेवाली सब ज्योतियाँ उस ज्ञानी में प्रकाशने लगती हैं।

वेदके पठनपाठनकी परंपरा।

वेद के पठनपाठन की परंपरा पुनः शुरू करनी है। इस कार्य के लिये हमने पाठ्य पुस्तकें बनायीं हैं और इन पुस्तकों का अध्ययन अनेक नगरों में अनेक सज्जनोंने शुरू किया है-

१. वेदपरिचय परीक्षा ३०० मंत्रोंकी पढाई। मू. ३॥) डा. व्य. ॥)

२. वेदप्रवेश परीक्षा ५०० ,, ,, मू ४) डा. व्य. ॥)

ये पुस्तक तैयार हैं। तृतीय परीक्षा 'वेदप्राज्ञ' की है। इस की पढाई १००० मन्त्रों की है। यह पुस्तक छप रही है। छपनेपर सूचना दी जायगी।

इन पुस्तकोंमें अखण्ड सूक्त, मन्त्र-पाठ, पदपाठ, अन्वय, अर्थ, भावार्थ, टिप्पणी, विशेष स्पष्टीकरण, सुभाषित, पुनरुक्त मन्त्र, विस्तृत प्रस्तावना, मंत्रसूची आदि अनेक सुविधाएं हैं। जो इन का अध्ययन करेंगे, वे स्वयं वेद का अध्ययन करने की रीति जान सकेंगे, अर्थात् इस रीति से अध्ययन करनेवालों का वेद में प्रवेश स्वयं ३-४ वर्षों के अध्ययन से हो सकता है। जो पाठक प्रयत्न करेंगे, उनको ही यह साध्य होगा।

यह पाठविधि अत्यत आसान है। साधारण हिंदी पढने वाले भी इस में अपना प्रवेश प्राप्त कर सकते हैं। पढानेवाला न होनेपर भी पढनेवाला स्वयं पढकर अपना प्रवेश इस के अन्दर कर सकता है। इतनी यह पाठविधि सुबोध और सरल है।

सूक्त अखण्ड होने से मन्त्र का पूर्वापर संबन्ध पाठक स्वयं जान सकते हैं। वेदप्रवेश परीक्षा की पढाई में तो एक ही मरुत् देवता के इकट्ठे ५०० मन्त्र हैं। इस से एक ही देवता का सम्पूर्ण अध्ययन सहज ही से होगा। एक ही देवता के संपूर्ण मंत्रों का अध्ययन करना अत्यंत सुगम और सरल है, क्योंकि बारंवार वे ही पद पुनः पुनः देवता के वर्णन में आते हैं, इसलिये मंत्रों का बोध बडी आसानी से हो जाता है। पाठक स्वयं १-२ महिने इस तरह से अध्ययन करके स्वयं जान सकते हैं कि इस तरह वेद के अध्ययन की कितनी सुविधा हुई है।

आगे की पाठविधि में भी इसी तरह एक एक देवता के सब सूक्त और सब मन्त्र रहेंगे। इस रीति से १२ वर्षों का अध्ययन पाच वर्षों में हो सकता है।

अध्ययन करनेवालोंने प्रत्येक स्थान में दो दो तीन तीन सज्जनोंने मिलकर अध्ययन करने की प्रथा जहां शुरू की है, वहां एक दूसरेकी सहायता करनेके कारण इस तरह के मिलकर अध्ययन से सबको लाभ होता है। परन्तु कई नगरों में अकेले भी कई भद्र पुरुष अध्ययन कर रहे हैं।

जो पाठक इस तरह वेदका अध्ययन करना चाहतेहैं, वे ऊपर लिखी पुस्तकें म० आ० द्वारा डा० व्य० सहित मूल्य भेजकर मंगवा सकते हैं। शीघ्र ही पुस्तकें मगवाइये। क्योंकि आधी समाप्त हो चुकी हैं।

—संपादक

उपमाओंका विचार।

(लेख १२) ×

गत लेखमे अथर्ववेद के ' **स्कम्भसूक्त** ' (अथर्व १०।७) का विचार किया और बताया कि वेदका तत्वज्ञान '**सदैक्य**' का प्रतिपादन करता है। ' **सदैक्य** ' ही वेद का रहस्यवाद है। स्कम्भसूक्त मे यह रहस्य उपमाओं से उत्तम रीतिसे समझा दिया गया है। इन उपमाओं का थोडासा अधिक विचार इस लेख में करना है, क्योंकि उपमा का यथायोग्य ज्ञान होनेसे ही तत्वज्ञानके सिद्धान्त विदित हो सकते है। इस लिये इन उपमाओं का यहां थोडासा अधिक विचार करना है। इस सूक्त मे मुख्य उपमाएं ये है, (१) एक ' **वस्त्र** ' की और (२) दूसरी ' **वृक्ष** ' की। इनके अतिरिक्त (३) **स्तंभ**, (४) '**काल**,' (५) एक का '**सहस्रधा विभक्त**' होना, (६) सब इंद्रियों से सदा '**इकट्ठा बलिसमर्पण**' होना, (७) पिण्ड-ब्रह्माण्ड का एकत्व, (८) सत् और असत् का एकत्व, (९) अंगप्रत्यंगो मे **देवताओं के अनुभव** और (१०) स्वराज्यप्राप्ति, इतने महत्त्वपूर्ण विषय इस सूक्त मे आये है। इन सब का विशेष विचार करना चाहिये। तथापि हम इस लेख मे सब से प्रथम ' वस्त्र ' और 'वृक्ष' इन दोनों उपमाओं का विचार करते है-

(१) वस्त्र की उपमा।

कपास, ऊन अथवा रेशीम के धागे बनते हैं और उन धागों से वस्त्र बुना जाता है, जो सब पहनते, ओढते, या बिछाते है। मनुष्य वस्त्रका अनेक प्रकारसे उपयोग करता है।

कपास, ऊन अथवा रेशीम से वस्त्र बनता है। पहिले चर्खे पर अथवा चक्र पर सूत कांता जाता है, सूत के ताने-बाने बनते है और उन से करघे पर कपडा बुना जाता है। जोलाहा कपडा बुनता है, उसकी स्त्रियां सूत कांतती है, करघे पर वस्त्र बुना जाता है। बीच मे अन्य यत्रों का भी उपयोग किया जाता है। अतः पाठक झट प्रश्न करेंगे कि, जोलाहा, कपास और यंत्र ये तीन साधन यहां जैसे आवश्यक हैं, वैसे ही ईश्वर, प्रकृति और जीव विश्वनिर्माण मे लगते है, अतः यहां ' **सदैकत्व** ' नही है, परन्तु सत का त्रैत है। परन्तु इस के समझाने के लिये ' **अभिन्न-निमित्त-उपादान-कारण** ' का सिद्धांत शास्त्रकारोंने माना है। जगत् मे निमित्त और उपादान कारण भिन्न भिन्न होते हैं, परन्तु परमेश्वर और सृष्टि के विचार में एक ही ईश्वर निमित्त कारण, उपादान कारण तथा अन्यान्य कारण होता है, ऐसा शास्त्रकारों का मत है।

जोलाहा, कपास, करघा जगत् मे भिन्न भिन्न हैं, परन्तु ईश्वर ही इस सब विश्वरूपी वस्त्र का अ-भिन्न-निमित्त-उपादान-कारण है। यह बात इन उपमाओंका विचार करनेसे सहज ही से ध्यान मे आ जायगी। कपास ही स्वय सूत बन जाता है, सूत ही स्वयं वस्त्र बन जाता है, ऐसा स्वयं चैतन्यका बुद्धिपूर्वक शक्तिका प्रकटीकरण इस विश्व मे यहा हो रहा है। इसी स्वयं प्रकटीकरण के तत्त्व को बताने के लिये ये दो उपमाएं इस स्कम्भ सूक्त मे दी हैं। इनको यथायोग्य रीति से समझने पर यह बात स्वय समझने मे आ जायगी। इन उपमाओं का विचार होने तक पाठक यहा निमित्त कारण और उपादान कारण एक ही है, ऐसा थोडी देरी के लिये माने।

सूत कपास से कैसा बनता है, सूत से कपडा कैसा बनता है, इस का विचार यहा पाठक न करें। कपास, सूत, ताना-बाना, वस्त्र, सीये हुए कपडे और फटे कपडे इन सब मे कपास की एकता कैसी है, इसी को यहां इस समय जानने का यत्न करें। कपास तो स्वय कपास ही है, सूत बननेपर भी कपास ही एक विशेष रूप धारण करके रहता है, क्योंकि सूत मे कपास के बिना और कोई दूसरी वस्तु नही रहती। सूतका ताना और बाना बना, यहा नया नामाभिधान हुआ, तो भी कपास का ही वह रूप है। ताने और बाने से वस्त्र बन गया, तो भी कपासपने मे कोई हेर-फेर नही हुआ। इस कपडे से काटकर नापपर सीकर नाना प्रकार के कपडे अर्थात् सदरा, कोट, चोगा, कुडता, पाजामा, सुरवार, धोती, उत्तरीय, साफा, फेटा, रुमाल, चादर, गादी,

× इस लेखमाला का ११ वाँ लेख ' **वैदिक धर्म** ' क्रमाङ्क २८४ मे पृ. २१५ पर छपा है।

रजाई आदि अनेक उपयोगी कपडे बनाये जाते हैं। प्रत्येक कपडे का उपयोग भिन्न होता है, एक कपडा दूसरे काम में नहीं आता। तथापि उन सब में कपास ही कपास है, इसमें संदेह नहीं है।

इस सूतको नाना प्रकार के रंग देने से और अधिक सौंदर्य तथा विविधता बढ जाती है। इतनी विविधता बनने पर भी ये सब कपडे एक ही कपास के हैं, इस में किसीको सन्देह नहीं हो सकता। एक ही कपास इतने रंगरूपों में और नाना शकलों में प्रकट हुआ है, यह बात सहज ही से ध्यान में आ सकती है। कपास का यह विश्वरूप ही है, कपास ही के ये नाना रूप हैं, किसी दूसरी वस्तु की यहां कोई मिलावट नहीं है।

इतने विचार से यहां यह बात स्पष्ट हुई कि विविधता होने पर भी उस विविधता में एकता है। इस एकता को देखना ही वैदिक संदैक्य दृष्टि है। कपास से सूत बनने पर प्रत्येक सूत का धागा अलग अलग अपनी सत्ता रखता है। सूत से ताना और बाना बनने पर पृथक्त्व और अधिक बढता और प्रगट होता है। कोई भी ताने को बाना और बाने को ताना नहीं कह सकता। उससे कपडा बनने पर वह सर्वथा कपास, सूत और तानेबाने से पृथक् वस्तु दिखाई देती है। कपडे से कोट, कुडता, पाजामा आदि सीये हुए कपडे बनाये जाने पर उनके स्वरूपोंमें, उपयोगों में और प्रयोगों में अनेक प्रकार की विविधता निर्माण होती है। यह विविधता स्पष्ट प्रतीत होनेवाली है। इस विषय में किसी को शंका आनेकी भी संभावना नहीं है।

पाजामे का उपयोग साफे के समान नहीं हो सकता और कुडता धोतीका काम नहीं देता, तथा गादी इन सबसे पृथक् है। इस तरह एकदूसरे में पृथक्त्व स्पष्ट है। इतनी विविधता और पृथक्ता होने पर भी कपास की दृष्टि से सबको देखने से सब में कपासपन की एकता ही प्रतीत होगी। संदैक्यवाद की दृष्टि से विश्व की विविधता होने पर भी उस में ब्रह्मतत्त्व अथवा आत्मतत्त्व की एकता इसी तरह है। इसी एकत्व का अनुभव करना चाहिये। 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' इस वाक्य में यही एकत्व की दृष्टि है। इसी तरह—

सर्वं खलु इदं ब्रह्म। (छां. ३।१४।१)
पुरुष एव इदं सर्वं। (ऋ. १०।९०।२)

उपनिषद् और वैदिक संहिता में यही संदेश दिया है, जो इस कपास के वस्त्र के उदाहरण से यहां समझा दिया है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, औषधिभ्योऽन्नं, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। (तै० उ० २।१।१)

' उस आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधि, औषधि से अन्न, अन्न से रेत, रेत से मनुष्य, इस तरह यह मनुष्य अन्नरसमय है। ' आत्मा से सब सृष्टि कैसी बनी, इस का यह वर्णन है। यही कपास के वस्त्र की प्रक्रिया में देखिये—

' कपास से सूत, सूत में ताना और बाना, उस से कपडा, कपडे से कोट, कुडता आदि बने हैं। इस तरह ये सब कोट, कुडते आदि कपडे कपास के ही नाना रूप हैं। ' इस वर्णन से संदैक्यवाद के द्वारा वेद इस विश्व की समस्या किस तरह हल करना चाहता है, यह पाठकों के ध्यान में आ सकता है। ब्रह्म, आत्मा अथवा ईश इस विश्व के रूप में प्रकट हुआ है। यहां इस विश्व में प्रभु के ही सब रूप हैं। प्रभु को छोडकर इस विश्व में कुछ भी अन्य वस्तु नहीं है। यह वेद का सिद्धांत है। इस सिद्धांत को समझाने के लिये वेदने ' वस्त्र ' की उपमा दी है और यह जटिल विषय समझा दिया है। इतने विवरण से पाठकों के समझमें यह वेद का सिद्धांत आया होगा। इस विश्व में यद्यपि वस्तु वस्तु में विविधता है, तथापि मूलतः संपूर्ण विश्व एक ही ब्रह्म का स्वरूप है। इसलिये ईश्वर के नामों में ' विश्वरूप ' यह एक नाम दिया गया है।

जैसी वस्त्र की उपमा यहां दी है, वैसी और अनेक उपमाएं अन्यान्य स्थानों में इस समस्या को समझाने के लिये दी है। उन में से कई यहां देते हैं—

१. अनेक प्रकार के जेवरों में सुवर्ण के समान ईश्वर, सब विश्वके रूपों में है। सोनेके मणि सोने के ही धागे में पिरोये गये, तो मणि और धागे की विविधता होनेपर भी सोने की एक ही सत्ता होती है। इसी तरह विश्व के विविध रूपों में एक ही ब्रह्म ओतप्रोत है।

२. मिश्री के अनेक प्रकार के खिलोने बनाये, तो उन नाना रूपों मे एक ही मिश्री एकसी ही मीठास से परिपूर्ण रहती है। इसी तरह विश्व के नाना रूपों मे एक ही परमात्मा अपने सत्–चित्–आनंदरूप निज भाव के साथ विराजता है।

३. एक मिट्टी के नाना प्रकार के छोटेमोटे बर्तन बनाये, तो उन नाना रूपों में एक ही मिट्टी रहती है। उसी तरह एक ही ब्रह्म इस विविध संसार में ओतप्रोत भरा है और उसी के ये नाना प्रकार के रूप है। इसी तरह तांबे, पीतल लोहे, चांदी, सोनेके बर्तनोंके विषयमें पाठक समझ सकते है।

४. एक ही लकडी से अनेक पात्र, खिलोने, गृहस्थी का अटाला आदि सब बनाया गया, तो उन सब मे एक ही लकडी रहती है, इसी तरह सब संसार के वस्तुओं मे एक ही परमेश्वर है। यहां इस ससार मे दूसरी कुछभी वस्तु नहीं, विना एक परमात्मा के।

सब इन तथा इसी तरहकी अन्यान्य उपमाओं से 'एक सत्' है और वही सत् विश्वके नाना रूपोंमे प्रकट होता है, यह बात सिद्ध होती है।

स्कम्भसूक्त के ४२–४४ मंत्रों मे इस तरह का वर्णन आता है—

'गोरी और काली स्त्री छ: खूटियोंवाले करघे पर कपडा बुनती हैं। इनमे से एक स्त्री धागे को अलग करती है, दूसरी धागों को यथास्थान मे जमा देती है। दोनों स्त्रियां इस तरह कुशलता से कार्य करती है कि धागा न टूटे। पर ये सभी अपना वस्त्र बुनने का कार्य समाप्त भी नहीं करती। वे सदा नाचती हुई अपना बुनने का कार्य करती जातीं हैं। वहां एक जोलाहा पुरुष है, वह ठीक तरह कपडा बुनता बैठा है। यह कपडा पृथ्वी से लेकर द्युलोक तक फैला है और इसकी बनावट अखण्ड चल रही है।'

यहां वस्त्र की उपमा काल के साथ वर्णन की है। इस-लिये कालचक्र का भी यहां थोडासा विचार करना आवश्यक है। देखिये–

कालचक्रका विचार।

'काल' नाम परमात्मा का है। काल के विचार से भी अनेकत्व के व्यवहार मे एकत्व किस तरह है, इस का ज्ञान हो सकता है। इसलिये इस विषय में थोडासा लिखते है।

काल एक ही है। वह अटूट और अखंड है। वह अनादि तथा अनंत है। काल का यह स्वरूप होने पर भी त्रुटी, लव, निमिष, लघु, गुरु, प्राण, पल, घटि, मुहूर्त, प्रहर, दिन, अहोरात्र, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, कल्प आदि काल के छोटेमोटे अनेक विभाग किये हैं। इन कालावयवों से सब मानवी व्यवहार चलते हैं। इन के विना मानवी व्यवहार चलेंगे भी नहीं, इतनी इन कालावयवों की व्यवहार मे आवश्यकता है। परन्तु सच देखा जाय, तो ये अवयव काल्पनिक है। वस्तुत: कालमें कोई अवयव नहीं है।

काल अखण्ड, अटूट, अनाद्यनन्त, एक ही एक है, परन्तु मनुष्य अपने व्यवहार के लिये काल के खण्ड मानता है, उन का गणित करता है और इन कालखण्डो की ऐसी व्यवस्था मनुष्यने रची है कि इन के नाप के घटियंत्र भी इसने बनाये है। अपनी हलचल इन कालखण्डों के साथ इसने जोड दी है। और अब ऐसी अवस्था पर मनुष्य पहुंचा है कि, इन कल्पित अवयवो के नापने के घटियंत्रो के विना इस का व्यवहार चल ही नहीं सकता। वस्तुत: काल मे टुकडे नहीं हैं। काल अटूट है, अखण्ड है। उस में इसने विभागो की कल्पना की, क्योंकि कालविभाग करने की शक्ति मानव मे नहीं है। इसने कितने भी विभाग करने के यंत्र निर्माण किये, तो भी काल अटूट और अख-ण्डित ही रहेगा। अटूट काल के कल्पित विभाग इस मानवने अपनी कल्पनाशक्ति से किये और उन कल्पित विभागों के द्वारा अपने को ऐसा बांध दिया है कि, वह अब उन से मुक्त होना कठिन है।

काल मे टुकडे न होने पर भी उस के टुकडों का हिसाब जैसा किया जाता है, वैसा ही सर्वत्र एकरस, अखण्ड, अटूट, अविभक्त, परमात्मा है, उस मे विश्व के नाना खंडित रूपों की कल्पना की जाती है और विश्व के रूपों के विविध टुकडों के कारण मानवों–मानवो से अनंत लडाई, झगडे उत्पन्न होते हैं और हजारों और लाखो के बलिदान भी इन लडाइयों मे होते हैं। पर जिस परमात्मा पर इस विश्व की रचना हुई है, और यह विश्वरूप जिस परमात्मा का रूप है, वहां नित्य एकरसता है, वहां खण्ड नहीं है, टुकडा नहीं है। मानव विभिन्नता की कल्पना करता है और इस कल्पित विभक्तता के कारण नाना प्रकार के झगडे करता रहता है।

अतः मनुष्य सर्वत्र परमात्मा की एकरसता देखे, अनुभव

करे और काल्पनिक विभेदों के कारण खडे हुए झगडों को मिटावे और अपनी सब शक्ति विश्वरूपी अखंड परमेश्वर की सेवा के लिये लगा देवे। इस विश्वसेवा की उपासना से ही इस स्थानपर स्वर्गधाम का सुख प्राप्त हो सकता है। मनुष्य के ध्यान में यह सत्यधर्म आने के लिये ही वेद के द्वारा ऋषियों की वाणी से यह सदेकत्ववाद का उपदेश हुआ है। इस सदेकत्ववाद को सुस्पष्ट करने के लिये ही वेदने वस्त्र और काल की उपमा इस स्कम्भसूक्त में दी है, ताकि मनुष्य इस उपमाका बहुत मनन करें और सदैक्य का सिद्धान्त समझें और अपना कर्तव्य जाने तथा तदनुसार व्यवहार करके इस पृथ्वी को स्वर्गधाम बनावे।

वस्त्र और काल की उपमा उक्त सूक्त में है। काल के विषय में प्रश्न मन्त्र २,५-६ में हैं। और कपडा बुनने का दृष्टांत भी वस्त्र के दृष्टांत के साथ काल का भी वर्णन करता है। अतः यहां इन दोनों का वर्णन किया। जो पाठक इन का मनन करेंगे, वे सदैक्यवाद के सिद्धांत को ठीक तरह जान सकते हैं। अब वृक्षकी उपमा का विचार करेंगे।

वृक्षकी उपमा।

ऊपर के लेख में वस्त्र की उपमा का विवरण किया है। इस वस्त्र की उपमामें एक दोष है, वह यह कि कपास से वस्त्र स्वयं नहीं बनता। कपास से सूत, सूत से वस्त्र, वस्त्र से कपडे स्वयं नहीं उगते, वे बनाने पडते हैं। इस दोष के निवारण करने के लिये वेदने अर्थात् इस स्कम्भसूक्तने 'वृक्षकी उपमा' दी है। वृक्ष स्वयं बढता है, स्वयं फूलता और स्वयं फलता है। जो दोष वस्त्र की उपमा में था, वह दोष यहां से दूर हुआ है। वृक्ष अन्दरसे बढता है। बीज जमीन में पडनेपर जल की अनुकूलता रहने से बीज के अन्दर से स्वयं अंकुर उत्पन्न होता है और वह अंकुर बढने लगता है। थोडा बढने पर उस की शाखायें निकल आती हैं। आगे शाखाओं से टहनियां निकल आती है। टहनियों से पत्ते, फूल और फल निर्माण होते हैं, यह सब ऋतु अनुसार स्वयं अन्दर से ही होता रहता है। यहां '**अन्दर से वृद्धि होती है,**' यह बात मुख्य है। यही बात इस उपमा द्वारा बतानी है। शेष सब विवरण वस्त्रकी उपमाद्वारा बताया गया है। यह अन्दर से उगनेकी बात बतानेके लिये निम्न लिखित मन्त्र-भाग इस सूक्तमें आया है।

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे। तस्मिन् छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥ ३८ ॥

असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परमं इव जना विदुः। उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखां उपासते ॥२१॥

'इस भुवनके मध्यमें एक वृक्ष है, वह तेजस्वी है। जो सब देव हैं, वे इस यक्षके आधारसे रहते हैं, जैसी वृक्ष के आधारसे शाखाएं रहती हैं। असत् से उत्पन्न प्रतिष्ठापायी [विश्वरूपी] शाखाको ज्ञानी लोग परम श्रेष्ठ मानते हैं, परन्तु कनिष्ठ लोग केवल उसी एक शाखाको सत् मानकर केवल उसी एक ही शाखा की उपासना करते हैं, ये (अवरे) कनिष्ठ अर्थात् अज्ञानी लोग हैं।' तथा-

बृहन्तो नाम ते देवा ये असतः परिजज्ञिरे। एकं तदंगं स्कम्भस्य असदाहुः परो जनाः ॥२५॥

असच्च यत्र सच्चान्तः स्कभं तं ब्रूहि० ॥ १० ॥

'वे बडे प्रसिद्ध सूर्यादि देव हैं, जो असत् से उत्पन्न हुए है। यह असत् नामक शाखा (स्कम्भस्य) स्तम्भ का एक अङ्ग है, ऐसा श्रेष्ठ लोग कहते हैं। (स्कंभं) स्तम्भ में असत् और सत् दोनों शाखाएं हैं और असत् से बडे देव (परिजज्ञिरे) चारों ओर उत्पन्न हुए हैं।'

यहां एक वृक्ष है और उस की मुख्य दो शाखाएं हैं। यहां का वृक्ष ब्रह्म अथवा यक्ष है और उस की शाखाएं देवताएं हैं। एक शाखा का नाम सत् है और दूसरी का नाम असत् है। अवर अर्थात् कनिष्ठ अज्ञानी लोग एक ही शाखाको सत् मानकर उसी की उपासना करते हैं। ये लोक '**सत् + असत्**' **मिलकर स्कंभ हुआ है,**' यह जानते नहीं, यही उनकी अज्ञानता का सूचक है। उक्त मन्त्र को ठीक तरह समझने के लिये एक चित्र करते हैं। वह चित्र ऐसा है— (चित्र पृ० २६७ पर देखें)

१. यह ब्रह्मका वृक्ष है। यही सबका आधारस्तंभ है। यही स्कम्भ है।

२. इस वृक्ष की दो शाखाएं हैं, एक असत् और दूसरी सत्। (मन्त्र १०)

३, असत् शाखाकी टहनियों से ३३ देव और अनंत उपदेव निर्माण हुए हैं। ये देव बडे शक्तिशाली हैं। (मन्त्र २५)

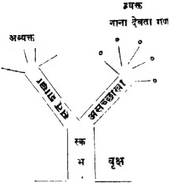

४. इस असच्छाखा को स्कभ में प्रतिष्ठित अर्थात् स्कभ में आधार पाया मान कर उसे तत्वज्ञानी (जनाः विदु) लोग (परम) परम श्रेष्ठ मानते हैं। (मन्त्र २१) क्योंकि इसी असत् शाखा से सब देव बने हैं। अतः यही विश्वरूप ब्रह्म का ही रूप है। (मन्त्र २५) यह ब्रह्म सदसत् शाखा रूप है (मन्त्र १०), ये सदसद्ब्रह्म के उपासक हैं। अत ये लोग श्रेष्ठ हैं।

५. परन्तु दूसरे अज्ञानी लोग हैं वे केवल इसी एक ही शाखा को 'सत्' मानते हैं और केवल इसी एक ही शाखा की (स्कंभ में प्रतिष्ठित न मानते हुए) उपासना करते हैं। (२१) [ये इस शाखा के विना दूसरा स्कंभादि कुछ भी नहीं मानते। सदसत् में से एककी ही उपासना करना इनका दोष है।]

६. जो कोई सूर्यचन्द्रादि देव है, वे सब, वृक्षकी शाखाओं और टहनियोंकी तरह, इस ब्रह्मरूप वृक्षके आश्रय से हैं। (मंत्र ३८) इसलिये सपूर्ण वृक्ष को मानना योग्य है। [वृक्ष का स्तम्भ, वृक्ष की शाखाएं और टहनियाँ, पत्ते, फूल और फल मिलकर अखण्ड वृक्ष है, वही उपास्य है। केवल एक भाग उपास्य नहीं, यद्यपि उपासना तो एक भाग की ही होगी, तथापि अनन्यभाव से उपासना होनी चाहिये, अन्य भाव से नहीं।]

७. वृक्ष के किसी एक विभाग को स्वतंत्र मानकर उपासना करना '**अन्यभाव से उपासना**' है। यह हीन है।

८. वृक्ष के किसी एक विभाग को अखण्ड और समग्र वृक्ष का भाग मान कर, उस विभाग की उपासना से समग्र वृक्ष की सेवा होगी, ऐसी '**अनन्यभाव से उपासना**' करना ज्ञानी श्रेष्ठ लोगों का कर्तव्य है। यही श्रेष्ठ उपासना है। (मं० २१)

९. सत्-असत्, [चेतन-जड, अव्यक्त-व्यक्त] ये एक ही के दो भाव है, (मं० १०) ऐसा अनुभव करना, **अनन्यभाव** ' से होता है। इनको विभिन्न मानना '**अन्यभाव**' से होता है, यही सब झगडों का मूल कारण है। यही द्वैत और द्वन्द्व है।

१०. सब विश्वरूप वृक्ष को ब्रह्मबीज का आविष्कार मानो। इस वृक्ष में छोटी बडी शाखाएं हैं, टहनियां, पत्ते, फूल फल हैं। ये ही विश्व के सब पदार्थ है। सब मानव इसी में हैं। अत जनता की उपासना अनन्यभाव से करना ही श्रेष्ठ धर्म है।

वृक्ष की उपमा का विवरण यहांतक किया है। इन दोनों उपमाओं से पाठकों के ध्यान में सब बातें आ गयीं होंगीं। अब '**काल**' का थोडासा वर्णन पूर्वस्थान में किया है। तथापि उस विषय में यहां थोडा अधिक लिखना आवश्यक है, वह अब लिखते हैं-

कालका वर्णन।

पूर्व स्थल में काल के वर्णन में यह बताया है कि काल एक है और अखण्ड है, परन्तु त्रुटि, पल, घटी, मुहूर्त, प्रहर, दिन, रात, सप्ताह, पक्ष, महिना, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, कल्प आदि अनेक विभाग कल्पना से माने गये हैं। वास्तव में काल का कोई खण्ड कर नहीं सकता, तथापि अखंडित काल के खंडों की कल्पना कर के मानव अपने सब व्यवहार कर रहा है। इसी तरह अखण्ड एकरस ब्रह्म में नाना पदार्थों के खण्डित रूपों की कल्पना कर के मानवों का सब व्यवहार हो रहा है। कितनी भी खण्डित रूपों की कल्पना क्यों न की जाय, उस से ब्रह्म अनन्य, अखण्डित और एकरस होने में कोई संदेह नहीं है। यही बात हमें काल के वर्णन से प्राप्त होती है।

एक ही काल नाम सूर्य से सब से प्रथम **दिनप्रभा** और **काली रात्रि** ये दो विभिन्न रूप उत्पन्न होते हैं। ये परस्पर विभिन्न रूप हैं, तथापि एक ही सूर्य से ये निर्मित हैं। अत. ये सूर्य की दो अर्धांङ्गियाँ यहां मानी हैं,

(युवती विरूपे अहोरात्रे। मं० ६)। इनहीमें से एक को सत् और दूसरे को असत् मानो तो एक वृक्ष की दो शाखाओं की ठीक कल्पना हो सकती है।

रात्री असत् रूप मानो, क्योंकि उस में सूर्य के पूर्ण प्रकाश का अभाव है और दिन को सत् मानो, क्योंकि उस में सूर्य का प्रकाश रहता है। पुराणों में सूर्य को ही शिव कहा है और उसकी एक धर्मपत्नी 'गौरी' और दूसरी '**काली**' कही है। यह बात यहां के पूर्वोक्त रूपक में देखनेयोग्य है। सूर्य ही काल है और दिन और रात्री ये एक काल के ही दो रूप हैं। काल का वस्त्र बुनने में इन दोनों का बडा भारी कार्य रहता है, इनके विना आयुरूपी कपडा बुना नहीं जाता।

रात्रीरूपी असत् शाखा के आश्रय से चन्द्रमा, नक्षत्र, गुरु, शुक्र, बुध, शनि, विद्युत् आदि आकाशस्थ देवतागण प्रकट होते हैं। दिनरूपी सत् प्रकाशमयी शाखा में केवल एक ही चैतन्य का प्रकाश ही प्रकाश रहता है। नक्षत्रादि नाना देवताओं की सभा तो रात्री में ही, असच्छाखा में ही लगी दीखती है। असच्छाखा से इन देवताओं का प्रकट होना इस तरह प्रत्यक्ष होता है।

दिन-रात्री, शुक्ल-कृष्ण पक्ष, उत्तरायण-दक्षिणायन, (विश्वनिर्माण-विश्वप्रलय अथवा) ब्रह्मदिन-ब्रह्मरात्री यहां तक इस कालवृक्ष की शाखाएं और टहनियाँ फैली हैं। इतना होने पर भी काल एक, अखण्डित और अनन्य है और अटूट है। इसी तरह विश्व में विविध पदार्थ दीखने पर भी (**सर्वं खलु इदं ब्रह्म**। छां० उ०) यह सब ब्रह्म का ही अखण्ड रूप है, इस में संदेह नहीं है।

सहस्रधा विभक्त होना।

स्कम्भसूक्त के नवम मन्त्र में '(**स्कम्भः एकं अंगं सहस्रधा अकरोत्**। मं. ९) कहा है कि इस स्कंभने अपने एक अंग को सहस्रधा विभक्त किया है। इन विभागों से ही ये विश्व के नाना पदार्थ बने हैं। यह बात हमने वृक्ष के वर्णन के प्रसंग में अच्छी तरह देख ली है। एक वृक्ष का स्तंभ विभक्त होकर उस की अनेक शाखाएं बनती हैं, प्रत्येक शाखा अनेक टहनियों में विभक्त होती है, प्रत्येक टहनी पत्तों, फूलों और फलों में विभक्त होती है। इस तरह यह विभक्तीकरण वृक्ष में स्पष्ट दीखता है।

कपास का विभक्तीकरण सूत्र में होकर इस सूत्र से ओतप्रोत वस्त्र रहता है। परमेश्वर के वर्णन के लिये भी यही ओतप्रोत शब्द वेद-मन्त्र में प्रयुक्त हुआ है—

स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु। (वा. य. ३२।८)

वह परमात्मा सब प्रजाओं में ओतप्रोत है, जैसा सूत्र कपडे में ओतप्रोत (ताने और बाने के समान) है। कपडा ताने बाने से जैसा भिन्न नहीं है, वैसा ही सब प्रजाओं में प्रभु ताने बाने के समान होने से उनसे विभिन्न नहीं है। यहां कपडे में तानेबाने अथवा सूत के समान है, घडे में पानी पृथक् रहने के समान कपास वस्त्र से पृथक् नहीं है। कपडे में सूत्र के समान अपृथक् है। ऐसा विश्व के रूप से ब्रह्म पृथक् नहीं है।

यहां सहस्रधा विभक्त होना और नाना रूप धारण करना, परंतु नाना वस्तुओं से पृथक् न रहना आदि भाव स्पष्ट हो रहे हैं। '**सहस्रधा विभक्त**' होकर परमात्मा विश्वरूप बनता है। अतः वही विश्वमें ओतप्रोत है। पाठक यहां परमात्माकी सर्वव्यापकता जाननेका यत्न करें।

सर्वव्यापकता।

सर्वव्यापकता अनेक प्रकारकी रहती है, उदाहरण के लिये देखिये-

१. कपडे में सूत्र और कपास सर्वव्यापक है, घडे में मिट्टी सर्वव्यापक है, जेवर में सोना सर्वव्यापक है। यह '**अभिन्न-निमित्त-उपादान-कारण**' रूप निर्द्वन्द्व सर्वव्यापकता है।

२. बर्तन में जल भरपूर भरा है, अतः बर्तन के अवकाश में जल सर्वव्यापक है। यह आधाराधेय द्वन्द्वरूप की सर्वव्यापकता है।

३. तपाये हुए लोहे में अग्नि सर्वव्यापक है, पदार्थों में विद्युत् सर्वव्यापक है। तिलोंमें तेल और दूधमें घी सर्व-व्यापक है। यह व्याप्यव्यापक द्वन्द्वकी सर्वव्यापकता है।

मुख्यतया ये तीन प्रकारकी सर्वव्यापकताएं हैं। इनमें पहिली सर्वव्यापकता **निर्द्वन्द्व सर्वव्यापकता** है और अन्य दोनों '**द्वन्द्व सर्वव्यापकताएं**' हैं। इस सूक्तमें वस्त्र और वृक्ष आदि उपमाओंद्वारा जो सर्वव्यापकता कही है, वह निर्द्वन्द्व सर्वव्यापकता है, जिसमें शास्त्रकारोंने निमित्त उपादान आदि कारणों के एक होने का वर्णन किया

है। पुरुषसूक्त, रुद्रसूक्त आदि वैदिक सूक्तों में यह निर्द्वन्द्व सर्वव्यापकता बतलायी गयी है । सदैक्यवाद में ईश्वर की यही व्यापकता मानी है ।

अन्य सब सर्वव्यापकताएं द्वैत-आश्रित हैं। दो वस्तुओं के माननेपर एक में दूसरी को व्यापक मानने से उन की सिद्धि है । पाठक इस सर्वव्यापकता के सूक्ष्मभेद को जानें और वेद में जो अन्तिम सिद्धान्तरूप सर्वव्यापकता कही है, वह निर्द्वन्द्व सर्वव्यापकता है, अर्थात् एक ही 'सत्' नाना रूपों को धारण करता है, अथवा स्वयं नानारूप बनता है, जैसा कपास वस्त्ररूप लेता है। पाठक सूक्ष्म दृष्टि से विचार करके जान सकते हैं कि स्थायी दो पदार्थ मानने पर जो सर्वव्यापकता होती है, वह वास्तवमें सर्वव्यापकता ही नहीं है ।

क्योंकि जब एक वस्तु पूर्णतया सर्वव्यापक होती है, तब दूसरी वस्तु वहां रहही नहीं सकती । अत वेद के सदैक्य-वाद से जो निर्द्वन्द्व सर्वव्यापकता है, वही सच्ची सर्व-व्यापकता है ।

सत् और असत् एक ही के दो भाव हैं ।

इस विश्वका विचार करनेके समय सत्-असत्, चेतन-जड, अव्यक्त-व्यक्त, आत्मा-जड, पुरुष-प्रकृति, इत्यादि पदों से बताये जानेवाले दो पदार्थों का अस्तित्व स्थायी है, यह एक बात सदा खटकती रहती है । इसलिये इस सूक्तने बताया है कि ये एक ही स्कंभ के दो भाव हैं, ये दो पृथक् पदार्थ नहीं हैं । देखिये—

असत् च यत्र सत् च अन्तः स्कम्भं तं ब्रूहि० ॥१०॥
असत्-शाखां प्रतिष्ठन्तीं० ॥ २१ ॥
एकं तत् अंगं स्कंभस्य असत् आहुः ॥ २५ ॥

'सत् और असत् ये दो भाव स्तंभ में हैं। असत् नामक शाखा स्कम्भ पर प्रतिष्ठित है । असत् नामक एक अंग स्कम्भ का ही है । ' इस से स्पष्ट है कि सत् और असत् ये दो भाव एक ही सत् के हैं । तथा—

लोका वै तस्मिन् संप्रोताः
तस्मिन् इ ऊताः प्रजाः इमाः ॥ ४ ॥
(पिप्पलाद १७।११)

पिप्पलाद की अथर्वसंहिता में इसी सूक्त में यह मन्त्र अधिक है । इस मन्त्र में यह अधिक स्पष्ट किया गया है कि- 'उस एक ही सत् में ये सब लोक ओतप्रोत हैं अर्थात् वस्त्र में जैसे तानेबाने के धागे होते हैं, वैसे ये सब लोक उस में हैं । ' वस्त्र से धागे पृथक् नहीं होते, वैसे ही उस सत् से वे लोक पृथक् नहीं हैं, यह भाव यहां अधिक स्पष्ट किया गया है । इस से क्षर और अक्षर की एकता स्पष्ट हो जाती है । वेद के सिद्धान्त से क्षर और अक्षर मिलकर ही 'एक सत्' है ।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता ।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड में एकता है । जो नियम पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है । इस सूक्त में कई ऐसे मन्त्र है कि जो पिण्ड के वर्णन पर तथा ब्रह्माण्ड के वर्णन पर लगाने के लिये हैं । देखिये–

ये पुरुषे ब्रह्म विदुः ते विदुः परमेष्ठिनम् ॥ १७ ॥
यस्य त्रयः त्रिंशत् देवा अंगे सर्वे समर्पिताः ॥१३॥
यस्य त्रयः त्रिंशत् देवा अंगे गात्रा विभेजिरे ॥२७॥
यस्य सूर्यश्चक्षुः चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्रे आस्यं० ॥ ३३ ॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानी० ॥ ३४ ॥

'जो मनुष्य में ब्रह्म जानते हैं, वे परमेष्ठी-परमात्मा को जानते हैं । तैतीस देव जिस के अंग में अर्पित हुए है, तैंतीस देव जिस के अंगप्रत्यंगों में विभक्त होकर रहे हैं, अंगप्रत्यंग बनकर रहे हैं, सूर्य जिसकी आंख बना, फिर से नया बननेवाला चन्द्रमा इसकी दूसरी आंख बनी है, अग्नि जिसका मुख हुआ है, वायु जिसका प्राण-अपान हुआ है, अंगिरस जिसकी आंख है, दिशा जिसकी प्रज्ञान देनेवाली श्रुति अर्थात् कान हैं ।' इस तरह यह वर्णन जैसा परमात्मा का है, वैसा ही एक मानव व्यक्तिका भी है, क्योंकि व्यक्ति के आंख, कान, मुख आदि इंद्रिय भी क्रमशः सूर्य, दिशा और अग्नि-तत्त्व के अंश से ही बने हैं। ऐसे ही ३३ देवों के अंश मानव-शरीर में निवास करते हैं और परमात्मा के शरीर में ३३ देव संपूर्णतया निवास करते हैं। मनुष्य परमात्मा का अंश है और परमात्मा अंशी है । परमात्मामें ३३ देवता पूर्णरूप से रहते हैं और जीव-शरीर में अंशांश

से हैं, परन्तु दोनों में ३३ देवताएं निवास करती हैं। इससे न केवल पिण्ड-ब्रह्माण्ड के नियमों की एकता सिद्ध हुई, परन्तु पिण्ड-ब्रह्माण्ड मिलकर 'एक ही सत्' है, यह भी इससे सिद्ध हुआ। क्योंकि ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अंश में इसी तरह ३३ देवताएं हैं, अत सब अंश समान हैं और सब अंशों से युक्त पूर्ण अंशी भी समान अतः सब एक सत् है।

अंश और अंशी में तत्त्वदृष्टि से भेद नहीं है। अंशी बडा और अंश छोटा, यह छोटेपन और बडेपन विचार में न लिया जाय, तो तत्त्व की दृष्टि से अंश और अंशी एक ही है। जीव को परमात्मा का अंश और परमात्मा को अंशी कहा है। अतः तत्त्वतः ये दोनों एक ही हैं। यही बात यहां दोनों के वर्णनों में ३३ देवताओं के होनेसे सिद्ध की है। पाठक इसका अधिक विचार करें।

मनुष्य के पृष्ठवंश अथवा मेरुदण्डमें मस्तिष्क से लेकर गुदा के पीछे रहनेवाली रीढ की निचली हड्डी तक ३३ पर्व हैं, हड्डियों के जोड हैं। इन प्रत्येक दो हड्डियोंमें एक मांसग्रंथी है। इस प्रत्येक मांसग्रंथी अर्थात् मज्जाग्रंथी में एक एक देवता की शक्ति केंद्रित हुई है। योगियोंने इनमें से ८ केन्द्र योगानुभव के अभ्यास के लिये लिये हैं। वेद में भी 'अष्टाचक्रा नवद्वारा' (अ. १०।२।३१) ऐसा इन आठ चक्रों का वर्णन है। इस ध्यानयोगके अनुष्ठान से इन शक्तिकेन्द्रों की शक्ति बढती है और अंशका योग अंशी के साथ हो जाता है। यही अनुभव लेने के लिये योग-साधन है। इससे अंश और अंशी की एकता निःसंदेह सिद्ध होती है। यह एकता तर्क से भी जानी जा सकती है। क्योंकि अंश और अंशीकी एकता युक्तिसे भी सिद्ध है।

अंग-प्रत्यंगोंमें देवतांशोंका अनुभव।

मानव-शरीर के प्रत्येक अवयव, इंद्रिय और मज्जाकेंद्र में ३३ देवताओं के अंश हैं। इन की सात्विक शक्ति से ही मनुष्य शक्तिमान् हुआ है। इस में से किसी एक की शक्ति नष्ट होने से मानव शक्तिहीन होता है। मनुष्य अपने अन्दर इस का अनुभव कर सकता है। देखिये, मनुष्य की आंख है, यह सूर्यतत्त्व का अंश है। सूर्य के होने से ही यह कार्य करती है। विना सूर्य की सहायता के यह कार्य कर नहीं सकती। इससे सूर्य और आंख का संबंध मालूम हो सकता है। इसी तरह अन्यान्य देवताओं का अन्यान्य इन्द्रियों के साथ के संबंध का पता लग सकता है। इस संबंध के ज्ञानसे ही अपने अन्दर कौनसी देवता का अंश कहां कार्य करता है, इसका पता लग सकता है। इस विचार से, ध्यानधारणा से, योग अभ्याससे, वेद-मंत्रों के मनन से यह देवताओं का अपने इंद्रियों से संबंध स्पष्ट विदित हो जाता है। इसीसे परमात्मा का मैं अंश हूं, मैं परमात्माका अमृत-पुत्र हूं, इसका ज्ञान हो जाता है। अंशकी अंशी के साथ एकता भी इसी अनुष्ठान से स्पष्ट हो जाती है। अपने अन्दर दैवी अंश का साक्षात्कार इस तरह हो जाता है और तत्त्वतः अपनी योग्यता का भी पता लगता है। यह दैवी योग्यता का वर्धन करने के लिये ही वैदिक धर्म के सब अनुष्ठान हैं, यही ध्यानधारणा से किया जाता है। यह अनुष्ठान प्रत्यक्ष फलदायी है। यह कोई ख्याली बात नहीं है। इंद्रियों से देवताओं का संबंध स्वभाव से ही है। यह जानने और अनुभव करने से अपना देवता-मयत्व स्पष्ट दीखने लगता है। मानवी उन्नति का यही उत्तम साधन है।

सदा बलिका समर्पण।

ये सब ३३ देव एक ही परमात्मा के लिये सदा बलि समर्पण करते रहते हैं। ये देवतागण जो करते हैं, वह सब आत्मा को ही अर्पण होता रहता है। आप अपने शरीर में ही देखिये। इंद्रियों और अवयवों से जो होता है, उस का परिणाम आत्मा पर अवश्य होता है। इंद्रियाँ अपना किया कर्म आत्मा को अर्पण करें, या न करें, सदा वह आत्मा को अर्पण होता ही रहता है। इसी तरह बाह्य सृष्टि के अन्तर्गत देवताओं के सब व्यापारों का सम्बन्ध परमात्मा के साथ लगता है।

इस में और भी एक तत्त्व है। संपूर्ण विश्वरूप परमात्मा का ही रूप है। इसलिये मनुष्य जो जो करता है, वह परमात्मा के साथ ही व्यवहार करता है। भलाई या बुराई जो कुछ कर्म मनुष्य करता है, वह परमेश्वर के साथ करता है। क्योंकि–

अंगानि यस्य यातवः ॥१८॥

चलनवलन करनेवाले सब प्राणी इस के अंग-प्रत्यंग ही

हैं । यदि सब प्राणी तथा सब विश्व ईश्वर के अवयव हैं, तब तो मनुष्य का सब व्यवहार परमेश्वर के साथ ही हो रहा है, यह सिद्ध ही है । इसलिये कहा है कि ' मनुष्य जो करे, वह परमात्मा को अर्पण करे । ' यही कर्म का सुधार करने की कुंजी है । मनुष्य जो करता है, वह परमेश्वर के पास न समझते हुए जाता ही है, वह ज्ञानपूर्वक अर्पण करेगा, तो उस के कर्म सुधरेंगे और उस का चित्त शुद्ध होता जायगा । इस तरह संपूर्ण मानवजाति वैदिक धर्म के पालन से परम उन्नत होगी । इसीका नाम भूमिपर स्वर्ग का अवतरण है । अपने कर्म परमेश्वर को अर्पण करने से ऐसा लाभ होता है । जो स्वयं सदा हो रहा है, वही ध्यानपूर्वक और योगपद्धति से करने से वही परम उत्कर्ष का साधन बनता है । सब उपासना का विषय इस में आ चुका है ।

स्वराज्य-प्राप्ति ।

पूर्वोक्त सब लेख में जिस विचार-प्रणाली का अवलंब किया है, वह विचारप्रणाली और उस से करनेयोग्य अनुष्ठान यह सब मानव को मानव कोटीसे उठाकर देवकोटीमें उन्नत करनेवाला है । मानव ईश्वरांश होने से उसमें स्वभावतः देवत्व है । परंतु वह बढनेवाला है । जैसी चिनगारी अग्निही है, परंतु वह बढाने से प्रज्वलित होकर अग्नि बनती है, उसी तरह मनुष्य भी परमात्मारूपी महा अग्नि की चिनगारी है और वह योजनापूर्वक किये अनुष्ठानसे बढती है । यही ' नर ' का ' नारायण ' बनना है ।

यही स्वराज्यप्राप्ति है, जिसका वर्णन (स ह तत् स्वराज्यमियाय, यस्मान्नान्यत् परं अस्ति भूतं ॥ ३१) वह उस स्वराज्य को प्राप्त होता है, जिससे अधिक उच्च कुछभी नहीं है । नर का नारायण होना ही उच्च पद प्राप्त होना है । यही स्व-राज्य अर्थात् आत्म-प्रकाश का विकास है ।

ईश्वरभावसे युक्त मानव ही 'नारायण' है, यही स्वराज्य है । क्योंकी इसका नियमन यही स्वयं करता है । इसका नियमन करनेवाला कोई दूसरा नहीं है, अथवा इसपर दूसरे किसीका शासन आवश्यक नहीं है । यही परम शुद्ध आचरण करनेवाला होता है । इसके आचरणमें कोई अशुद्धि नहीं होती । यह मूर्तिमान् धर्म ही होता है । यही महात्मा और शुद्धात्मा है । मानव की परा कोटी की उन्नतिकी अवस्था ही यह है ।

जगत् में ऐसे पूर्ण पुरुष जितने अधिक होंगे, उतना यहां आनन्द और शान्तिसुख अधिक होगा । यह वैदिक धर्म का ध्येयबिन्दु है । यही मानवका साध्य है । यही मानव की पूर्णता है । यही नरका नारायण होना है ।

साधक वेदके धर्म का ग्रहण करेंगे और वेदके तत्त्वज्ञान के अनुसार अपना आचरण करेंगे, तो वे निःसंदेह उन्नति के पथसे उन्नत होते जायंगे ।

हिंदु-धर्म-मीमांसा ।

(लेखक- डॉ॰ शि॰ ग॰ पटवर्धन)

इस में हिन्दुधर्म के अन्तर्बाह्य स्वरूप का प्रश्नोत्तर-रूपमें दिग्दर्शन किया है ।

मूल्य १) रु॰ डा॰ व्य॰ ।-)

मन्त्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (सातारा)

स्वतन्त्रताके लिए प्रवर्तित दो युद्ध ।

[संशोधक- प्राध्यापक डॉ० ल० गोखले, भूतपूर्व प्रिन्सिपल होळकर कालेज, इन्दौर]
[लेखिका- सौ० उमाबाई गोखले, स्केनेकटेडि (यू. एस्. ए.)]

अमरीका के कुछ मिशनरी लोग भारतवर्ष में कई वर्षोंतक धर्मप्रसार का कार्य कर चुकने पर स्वदेश लौट जाते हैं और पश्चात् उन का एक प्रमुख कार्य अर्थात् ही भारत के सम्बन्ध में अमरीका में व्याख्यान देते घूमना ही होता है। इन वक्तृताओं में कई बार भारत में प्रचलित राजनैतिक समस्याओं की चर्चा भी हुआ करती है। ऐसे अवसरों पर ये मिशनरी सज्जन कहने लगते कि, 'यदि भारतीयों में स्वराज्य का प्रबन्ध सुचारु रूप से चलाने की योग्यता उत्पन्न हो तो अंग्रेज शासक–गण स्वयं ही उन्हें स्वराज्य दे डालेंगे; आज की दशा में स्वराज्य देने पर भी भारतीयों में उसे ठीक तरह सँभालने की क्षमता नहीं है। यदि कहीं आज ही भारत का त्याग कर के ब्रिटिश शासक अपना देश लौट जायँ, तो दूसरे ही दिन भारतवर्ष किसी अन्य आक्रामक के चँगुल में फँस जायगा।' इस भाँति की आलोचनाएँ सुन लेने का मौका यहाँ प्रायः हमेशा ही मिलता है। इन टीकाटिप्पणियों का उत्तर देनेके लिए प्राध्यापक गोखलेने कुछ नोट्स् लिख रखे थे और यह लेख उन्हीं के आधार पर लिखा है। इस में स्वतन्त्रता पानेके लिए छेडे दो समर-प्रसंगों की तुलना की गयी है।

× × × ×

ई. स० १७७५ में अमरीका के उपनिवेशोंने स्वतन्त्रता का उपभोग लेने के लिए इंग्लैंड से लडना शुरु किया। लगभग उसी समय भारतवर्ष में महाराष्ट्र प्रान्तने उसी हेतु से अँग्रेजों से लडाई छेड दी। इन दो युद्धों में विभिन्नता सिर्फ इतनी ही दिखाई देती है कि अमरीका को प्रारम्भ में स्वतन्त्रता नहीं थी, जिसे पाने के लिए उन उपनिवेशोंने समर का सूत्रपात किया। परन्तु भारत में आरम्भसे ही स्वाधीनता थी, लेकिन ब्रिटिश व्यापारियों के आक्रमणके फलस्वरूप वह लुप्तप्राय हो चली थी, अतः उसे अक्षुण्ण रखनेके लिए महाराष्ट्र रणभूमि पर अवतीर्ण हुआ। इस एक विभिन्नता को आँखों से ओझल कर दें, तो अन्य बातों में इन दो युद्धों में बडी अनोखी समानता है और इस अद्भुत साम्य को ठीक तरह समझने के लिए इन दो युद्धों का वर्णन समान टिप्पणियों के रूप में करने की चेष्टा की है। अमरीका के स्वातन्त्र्य-युद्ध की पूर्वपीठिका का सूक्ष्म ज्ञान होने के लिए प्रथम तत्पूर्ववर्ती सप्तवार्षिक युद्ध की, जो ब्रिटिश एवं फ्रेंचों के मध्य छिडा था, जानकारी पाना अवश्य है। ठीक उसी प्रकार, भारत में प्रवर्तित महाराष्ट्र के स्वातंत्र्य-समर का वास्तविक स्वरूप जानने के लिए ध्यान में रखना चाहिए कि इस देशमें ही अँग्रेजों एवं फ्रांस-निवासियों के बीच कई बार युद्ध हो चुके थे। अब प्रो० गोखले के तैयार किए नोट्स् ज्यों के त्यों नीचे दिये गये हैं। वे प्रथम अमरीका में वादविवाद की सुविधा को ध्यान में रखकर तैयार किए थे, इसलिए पहले बायें ओर अमरीका और पश्चात् दाहिने ओर भारतवर्ष ऐसा क्रम रखा है।

स्वातंत्र्य-युद्धोंकी तुलना।

(१) पूर्वेतिहास।

ब्रिटिश तथा फ्रेंचों के मध्य 'सप्तवार्षिक युद्ध' (Seven years' War) १७५६-१७६३

(अमरीका)	(भारतवर्ष)
१७५९ क्वीबेक की लडाई।	
१७६० मॉन्ट्रियल की लडाई।	१७६० वांदिवाश की लडाई।

१७६१ पांदीचेरी की लड़ाई।

१७६३ पैरिस की सन्धि, ब्रिटिश-विजय, फ्रेंच-साम्राज्य का पतन, कनडा प्रान्त अँग्रेजों के हाथ, सैन-डामिंगों पर फ्रेंचों का अधिकार।

१७६३ पैरिसकी संधि, अंग्रेज कर्नाटक लेते हैं, सिर्फ पांदिचेरी फ्रेंचों के हाथ में।

(२) युद्धकी पूर्वपीठिका।

(अमरीका)

१७६४ शक्कर पर कर, अमेरिकन असंतोष का आरंभ।

१७६५ स्टेंप ॲक्ट स्वीकृत, अमल में लाने का दिनांक १७ दिसेंबर निश्चित। पेट्रिक हेन्री की प्रथम वक्तृता, ब्रिटिश शासनप्रणाली का तीव्र निषेध, स्वराज्य का उपदेश (नवंबर १)। स्टेंप बेचनेवाले सभी लोग त्यागपत्र देते हैं।

१७६६ सैमुएल अडाम्स का बहिष्कार-योग।

१७७० बोस्टनका हत्याकांड (मार्च ५)

१७७३ बोस्टन की चाय की पार्टी (डिसेंबर १६)

१७७४ असह्य कानून (Intolerable Acts), राष्ट्रीय बहिष्कार का आरम्भ, राष्ट्रीय उपवास, हड़ताल, उपासना दिन (जून १)

(भारतवर्ष)

१७६४ बक्सर का युद्ध, मुगल साम्राज्य का पतन।

१७६५ दिवानी सनद (अगस्त १२), समूचे बंगाल प्रान्त पर ब्रिटिश अधिकार, मराठों के राज्य पर हमले चढ़ाने की आयोजना और उस के लिए निजाम से सन्धि (१७६६)।

१७६७ पूना के दरबार में मास्टिन् की नियुक्ति- " ऊपर ऊपर से स्नेहभाव दर्शाकर, पर अन्दर से गृह-कलहकी आग सुलगाकर या किसी दूसरे उपायसे कोशिश की जाए कि मराठे हैदर या निजाम से मित्रता का सम्बन्ध न प्रस्थापित कर सकें, ऐसे कार्य का " बंबई सरकार का गुप्त आज्ञापत्र।

१७७३ नारायणराव पेशवाका वध ऑगस्त ३०। बंबई में मराठा राज्य पर हमले चढ़ाने के लिए परामर्श करनेके हेतुसे अंग्रेज मंत्री-मण्डल की गुप्त सभा।

१७७४ षड्यंत्र का सृजन, राघोबा का षड्यंत्रकारियों से युद्ध, साष्टी पर विनाकारण अंग्रेजों की चढ़ाई (दिसेंबर ९)। अंग्रेज थानाका किला फतह करते हैं (दिसेंबर २७), राघोबा की हार और उस का भाग निकलना (दिसेंबर १०, १७७४)।

१७७५ राघोबा से सुरत का सुलहनामा (मार्च ६), अंग्रेज राघोबा का पक्ष लेकर मराठों से साफ साफ लड़ाई ठानते हैं।

(३) स्वतंत्रताके लिये युद्ध।

(अमरीका)

१७७५ युद्ध का आरंभ Lexington तथा Concord की लड़ाइयाँ।

(महाराष्ट्र-भारत)

१७७५ युद्धका स्पष्ट आरंभ, सुरतका युद्ध (मार्च १७)।

१७७५ अंग्रेजों का पहला विजय।
बँकरहिल की लडाई (जून १७)

१७७६ स्वतंत्रताकी घोषणा (जुलै ४), वाशिंगटन, जॉन अडाम (द्वितीय अध्यक्ष), बेंजामिन फ्रँकलीन आदि प्रमुख नेता स्वातंत्र्य-ध्येय का विरोध करते हैं, पर सॅमुएल ॲडाम्स्, पेट्रिक हेन्री, एवं टॉमस पेन इन तीनों के प्रयत्न से कॉंग्रेस स्वतंत्रता का प्रस्ताव स्वीकृत करती है और विधान तैयार करने के लिये कमिटी नियुक्त होती है। कमिटी की आयोजना के अनुसार जेफरसन विधान तैयार करता है, जिसपर हस्ताक्षर करने के लिए कोई तैयार नहीं; जॉन हँकोक नामक एक व्यापारी आगे बढकर पहला हस्ताक्षर करता है, बाद में दूसरे प्रतिनिधि हस्ताक्षर करने लगते हैं।

१७७६ न्यूयॉर्कके युद्ध-दीर्घद्वीप (Long Island) अगस्त २, श्वेत मैदान (White Plain) अक्तूबर २८; दुर्ग (Fort) वॉशिंग्टन (नवंबर२६), अंग्रेजों का जय, सेनापति हौ के निस्सार विजय।

१७७७ आलबनी पर, उत्तर से बर्गॉइन तथा दक्षिण से सेनापति होव के एक ही समय आक्रमण करनेका विचार निर्धारित होता है। बर्गॉईन मॉंट्रियाल से निकलकर ८००० सैन्य साथ लेकर मंजिल दर मंजिल कूच करता हुआ साराटोगा जा पहुंचता है। राह में बी. आर्नोल्ड पिछवाडे चढाई करके लगभग ३००० सैन्य निकम्मा बना देता है। पूर्व विचार के अनुसार हौ न्यूयॉर्क से उत्तर की ओर चल देता है, पर यकायक राय बदल कर दक्षिण की ओर झुककर फिलाडेल्फिया पर चढाई करता है।

१७७५ अंग्रेजों का प्रथम विजय. आडास का युद्ध (मई १७)

१७७६ पुरन्दरकी सुलह (फरवरी १९), वारन हेस्टिंग्ज पहले इस युद्ध का तीव्र निषेध करता है, (Impolitic, dangerous, unauthorised and unjust); पर शुरू में ही अच्छी विजय हुई, सो देखकर ज्यादह विजय पाने के लोभ से युद्ध को सम्मति देता है, पर बाद में राय बदल कर सुलह करना ठान लेता है और उस के लिए कर्नल अप्टन को पुरन्दर भेज देता है। (हेस्टिंग्ज की राय क्यों बदलती है, इस का कारण इतिहास में नहीं मिलता है। निश्चयपूर्वक यश मिलेगा इस तरह तैयारी करने का मौका मिले, अतः सुलह कपटतया की होगी, ऐसा शक पैदा होता है) बंबई सरकार पुरन्दर की सुलह अस्वीकृत कर के इंग्लैंड में शिकायत करती है और इधर बीच में हेस्टिंग्ज दूसरे निमित्त से बडी भारी तैयारी कर के ६ पैदल पलटने, १ तोपखाना तथा रिसाला पलटन इतनी सामग्री साथ में देकर कर्नल लेस्ली को मालवा की राह काल्पी से सुरत की ओर "शान्ततापूर्वक" भेज देता है (मार्च १७७८, आगे १७७९ देखो)

१७७७ हौ (Howe) की लडाइयाँ, ब्रांडिवाइन (सितंबर ११), जर्मनटाउन (ऑक्टोबर ४) । फिलाडेलफिया (सितंबर २६); हौ के थोथे विजय; कॉंग्रेस फिलाडेल्फीया छोड कर बाल्टिमोर में सभास्थान का स्थानान्तर करती है ।

१७७७ बर्गाइन की लडाइयाँ, अँग्रेजों की शरणागति; बेमिंस हाइट की लडाई (सितं. १९), साराटोगाकी पहिली लडाई (आक्तूबर ७), साराटोगा का दूसरा युद्ध (ऑक्टोबर १७), बर्गाइन का ५००० सैन्यके साथ शरण आना ।

१७७८ फ्रेंच राष्ट्र अमेरिका को मदद पहुंचाता है। (फर्वरी ६)

१७७९ साराटोगा की हार का भारत पर परिणाम और मराठा युद्धका अमरीका पर परिणाम । दोनों ओर ब्रिटिश सैन्य की न्यूनता, १७७८–१७८१ दक्षिणी लडाइयाँ ।

१७७८ सान्हाना की लडाई (दिसेंबर २९), अंग्रेजों का सान्हाना नगर एवं जार्जिया प्रान्त पर अधिकार । सान्हाना की लडाई में नीग्रो सैन्य श्वेतवर्णीय अमरीकन सैन्य की रक्षा करता है ।

१७७९ स्पेन और हालंड अमरीका को मदद पहुँचाते हैं ।

१७७८ मार्च २३, हेस्टिंग्ज का पत्र, संधिभंग करके युद्ध ठानने का हुक्म ।

१७७८ पूनेपर चढाई । लेस्ली को सूचना मिलती है कि सुरत को जाना छोड कर यकायक जुन्नर पर चढाई कर दे, इंगर्टन बडा भारी सैन्य लेकर पूनेपर हमला करने के लिए आपटेपर उतर जाता है, (नवंबर २२); स्टुअर्ट बोरघाट तथा खंडाला पर अधिकार जमाता है, पीछे से समूची सेना आती है । नवंबर २३, ब्रिटिश सैन्य ४००० और राघोबा का सैन्य भिन्न (संख्या नहीं मिली) । मराठा लोग चिंचवड तथा पुना जलाकर नष्ट करना चाहते हैं ।

१७७९ तलेगाँव का युद्ध; ब्रिटिश पराभव, ब्रिटिश सैन्य तोपें बंदूक रात को तालाब में फेंककर वापस दौड कर वडगांव तक जाते हैं, जहां मराठे घेरते हैं ।

१७७९ अँग्रेज शिकस्त खाकर मराठों की स्वतन्त्रता को मान्यता देते हैं (जानेवारी १३), शरण आनेवाली सेना– अंग्रजों की २६०० + राघोबा की ६४००=९००० । अंग्रेज संधिपत्र पर हस्ताक्षर करके (जानेवारी १३) सेना छुडा लेते हैं और बंबई पहुँचते ही पुनः युद्ध चलाने का परामर्श । पहले

कहा जा चुका है कि हेस्टिंग्जने बडी सेना के साथ लेस्ली को काल्पी पर भेजा था। मंत्री-मंडल ने इस कृत्यका निषेध किया था, क्योंकि ऐसा करना पुरन्दर की सुलह के विरुद्ध है तथा प्रत्येक पक्ष का कर्तव्य है कि सुलह की धाराओं का ठीक पालन कर ले; यदि स्वयं ही उस का भंग किया और वह भी विना कारण के तो ब्रिटिशों का साख निकल जायगा, जिस से भारत में रहना उन्हें दूभर हो जायेगा। इस पर हेस्टिंग्ज की राय ऐसी थी कि यह मौका बडा अच्छा है कि मराठा राज्य को परास्त कर भारत में अँग्रेजों का प्रभुत्व बढाया सकता है। इस सम्बन्ध में बहस चल ही रही कि, साराटोगा में ब्रिटिश पराभव होने का समाचार कलकत्ता आ पहुँचा (जून ११-१७७८)। अब हेस्टिंग्ज के मंत्रीमंडल की राय यूं हुई कि, पुरन्दर की सन्धिका भंग न करते हुए मराठों से स्नेहभाव अक्षुण्ण रखा जाय और अमरीका में अँग्रेजों को यथाशक्ति इधर से मदद दी जाय। लेकिन हेस्टिंग्ज उलटे ऐसा मानने लगा-'अमरीका में अंग्रेजी शासन रहे या न रहे, कोई विशेष बात नहीं। इंग्लैंड का उस से तनिक भी लाभ नहीं, पर अमरीकन राज्य निकल जाय तो भारत में ही उतना अधिक राज्य प्राप्त करना चाहिए, यही सब से अच्छा मार्ग है।' इस से स्पष्ट होता है कि, लेस्ली को काल्पीपर भेजते समय मराठों को समझाने बुझाने के लिये चिकनी चुपडी बातें की पर अन्दर से वह युद्ध ही छेडना चाहता था।

१७७९ अंग्रेज बडगांव की संधि भंग करके फिर से युद्ध शुरु कर देताहै (जून १२), हेस्टिंग्ज सारा बंगाली सैन्य बंबई भेजकर नयी सेना खडी करता है।

१७८० अहमदाबाद का युद्ध (फर्वरी १५), अंग्रेज अहमदाबाद शहर एवं गुजरात सूबा प्राप्त करते हैं। ग्वालियर की लडाई (अगस्त ३), अंग्रेज ग्वालियर का दुर्ग तथा मालवाका कुछ भाग लेते हैं। वसई की लडाई (दिसेंबर २२), अंग्रेज वसई का दुर्ग और कोंकण पर कब्जा करते हैं।

१७८० चार्लस्टन का युद्ध (मई १२) अंग्रेज चार्लस्टन नगर, कारोलिना सूबा पाते हैं। ब्रिटिश बडे युद्धों में विजयी होते हैं, पर अमेरिकन सैन्य छोटे छोटे हमलोंसे ब्रिटिश सेना के छक्के छुडाते हैं (उपमाके लिए औरंगजेब तथा मराठे लोग)।

१७८१ यॉर्कटाउन का युद्ध (अक्तूबर १९); अँग्रेजों का पूर्ण पराभव होता है; समुद्र पर फ्रेंचोंका रक्षक दल पहरा देता था, अतः भाग जाना असंभव। सेनापति कॉर्नवालिस ७००० सेनाके साथ शरण आता है।

१७८१ संधि की तैयारियाँ (नवंबर ३०)

१७८३ पैरिस की सन्धि (सितंबर ३)। अँग्रेज अमरीका की स्वतंत्रता का स्वीकार करते हैं।

१७८१ पूने पर दूसरा आक्रमण। सेनापति गॉडर्ड एक एक मंज़िल तै करता हुआ खंडाळा पहुँचता है। नाना फडनवीस पूनेतक का सारा सूबा दग्ध करने की तयारी करता है। ज्यादह सेना लाता है। वडगांव के समान घेरे जाने की संभवनीयता देखकर गॉडर्ड १०००० सेना के साथ भाग निकलता है (एप्रिल १५)। बडी कठिनाई से पनवेल की राह समुद्र से बंबई जाता है (एप्रिल २३)।

१७८१ सुलह करने का उपक्रम (मई १७)।

१७८३ सालबी की सन्धि (फर्वरी २४)। अंग्रेज मराठा-शासन की स्वतंत्रता को मान्यता देते हैं।

दो युद्धों में असंशय समानता।

ऊपर के दिये हुए तुलनात्मक वर्णन से एक बात साफ-साफ दीख पडती है। जितने वर्षोंतक अमेरिका के उपनिवेशोंने स्वतंत्रताका युद्ध प्रचलित रखा था, उतने ही वर्षोंतक महाराष्ट्रने स्वाधीनता समर का संचालन किया। जिस ढंग से और जितने अमेरिका को विजय मिले वैसे ही और उतने ही महाराष्ट्र को भी मिल गये थे। सारादोगा नामक स्थानपर अमेरिका के सैनिकोंने संपूर्ण ब्रिटिश सैन्य के छक्के छुडाये थे। इधर भारत में भी महाराष्ट्र सैनिकों की वीरता के सम्मुख वडगांवमें अंग्रेजों को मुँह की खानी पडी। अन्त में अमेरिका के समान महाराष्ट्रने भी ब्रिटिशों को बाध्य किया कि वे अपने प्रतिस्पर्धियों की स्वाधीनता को मान्यता दें। अपयश का विभजन भी दोनों देशों में प्रायः समान ही है। अमेरिका को कई बडे बडे नगरों एवं प्रांतों से हाथ धोना पडा और वैसे ही महाराष्ट्रने भी कुछ शहर तथा विभाग गँवाये, लेकिन अन्त में दोनों देशोंने गँवाये प्रान्त फिर से प्राप्त किये। अतः ऐसा कहने में तनिक भी आपत्ति नहीं कि पराक्रम करने में महाराष्ट्र तत्कालीन अमरीका के समकक्ष था। किसी को भी इस बारे में सन्देह करने का कारण नहीं है।

अमरीका को गुप्तरूपसे सहायता।

जैसे इन दो युद्धों में अद्भुत एवं बहुविध समता है इसी प्रकार कुछ विभिन्नताएँ भी हैं, जिन्हें ध्यान में रखना आवश्यक है। बिलकुल प्रारंभ से ही पार्लियामेंट के कुछ सदस्यों की अनुकूलता अमरीका के पक्षमें थी, अतः तृतीय जार्ज नरेश को युद्ध प्रचलित रखने में पार्लियामेंट से जैसे मिलनी चाहिए थी वैसी सहायता प्राप्त नहीं हुई। सेना में भर्ती होने के लिये पर्याप्त मात्रामें अँग्रेज सिपाही मिलना मुश्किल हुआ, अत. लाचार होकर जर्मनी से हेसियन (Hession) लोगों को वेतन देकर अमरीका में लडने भेजना पडा। सेनापति बेशक अँग्रेज थे, पर उन में भी मनोयोगपूर्वक बडी लगन से इंग्लैंड को विजय मिले, इस हेतु से प्रेरित होकर लडनेवाले थोडे ही थे। प्रमुख सेनापति हौ तो दिल से यही चाहता था कि अमरीकाको स्वतंत्रता मिले, इसलिए युद्ध का संचालन करते समय उस की नीति ऐसी हुआ करती थी कि खुद तो विजयी हो जाय लेकिन उस जीत का उपयोग इंग्लैंडको न मिले! उस के कई विजय इस भाँति थोथे ही थे। लॉंग आयलंड की लडाई में वह विजयी हो चुका था और वाशिंगटन को भागना पडा था। यदि उसी समय हौ उसके पीछे पडता, तो सैनासहित वाशिंगटन उस के चँगुल में फँस जाता और पश्चात् अमेरिका का स्वतन्त्रता-समर वहीं पर समाप्त होता। लेकिन उसी दिन पीछे लगना छोडकर सेनापति हौ दूसरे दिन से वाशिंगटन को पकडने निकला। तबतक अमेरिकन नेता संकटमुक्त हो बडी हिफाजत से न्यू जर्सी पहुँच गया। सारादोगाकी लडाईके मौकेपर भी सेनापति हौने इसी भाँति किया। ध्यान में रहे कि इंग्लैंड के रण-धुरंधर सेनापतियोंने इस युद्ध की आयोजना तैयार करके

भेजी थी। उत्तर से बर्गायन और दक्षिण से हौ एक ही समय आक्रमण कर दें और आहवनीके विद्रोहियों के केन्द्रको तोड दे, ऐसा विचार निश्चित हो चुका था। उसी के अनुसार हौ दक्षिण से कूच करने लगा और बर्गाइन उत्तरसे निकलकर साराटोगा तक आ पहुँचा। हौ की गति बडी धीमी थी और उस के अभियान में रोडे अटकाने के लिये वाशिंगटनने एक उत्कृष्ट छोटासा सैन्यविभाग रख दिया था। इस अश्वविभाग को भी लडने का मौका नहीं आया। अब विद्रोहियोंने संपूर्ण सैन्य बहुतायत से उत्तर की ओर भेजकर बर्गायन का घोर प्रतिकार करना शुरु किया। बेशक, बर्गायन विजयी हुआ, लेकिन साराटोगा पहुँचने तक उस की आधी सेना नष्ट हो चुकी थी। वहाँ आकर वह हौ की सहायता आने की बाट जोहता रहा। पर इधर हौ के विचार यकायक पलट गये और वह दक्षिण की ओर झुक कर फिलाडेल्फिया पर हमले चढा-कर शहरमें घुस गया। उस समय फिलाडेलफिया अमेरिकन विद्रोहियों की राजधानी थी, अत उनके केन्द्रपर आघात करके मैंने विद्रोह का जडमूल दबा दिया, ऐसा थोथा अभिमान प्रदर्शित करना हौ को संभव था और वह इस तरह डींग मारने लगा। विद्रोहियों की सारी सेना ऊपर उत्तर में थी जिसने बर्गायन के राह में रोडे अटकाकर उस की शरणगति अनिवार्य कर डाली। इतना हो चुकने पर अंग्रेजों के दिल में हौ के अभिप्राय के बारे में शक पैदा हुआ और कुछ समय पश्चात् वह सेनापति पद से हटाया गया, तथा उसे इंग्लैंड बुलाया गया। उस पर अभियोग चलाने का ख्याल स्थिर हुआ, पर आगे कुछ गुप्त कारणों की वजह वह स्थगित रहा। इस से स्पष्ट होता है कि स्वयं अंग्रेज ही किस तरह लुकछिपकर अमरीका को सहायता देते रहे।

महाराष्ट्र की कठिनाइयाँ।

इधर भारतवर्ष में महाराष्ट्र को इस प्रकार गुप्त सहायता मिलना तो दूर रहा, अंग्रेजों को भोंसला सदृश महाराष्ट्रीय को अपने पक्ष में मिलाने में बहुत कुछ सफलता मिली थी सो स्पष्ट है। साराटोगा-युद्ध के उपरान्त फ्रेंच लोग अमरीकनों को मदद देने लगे। पर दौर्भाग्यसे महाराष्ट्र को ऐसी सहायता कहीं से भी न मिली। हाँ, अंग्रेजों का कथन है कि भारत में फ्रेंच प्रतिनिधि लूबीन मराठों की मदद करने आया था, लेकिन उसमें कुछ भी तथ्य नहीं था। पुरंदरकी संधिका भंग करनेके लिए उन्हें किसी निमित्त की आवश्यकता थी। लूबीन फ्रेंच था सही, पर वह फ्रेंच सरकार की तरफ से नहीं आया था और उससे या उसकी प्रेरणा के फलस्वरूप फ्रेंच गवर्नमेंट से मराठों को सहायता मिलनेकी कुछ भी संभावना नहीं थी। तिसपर भी, अँग्रेजों ने झूठा आरोप करना शुरु किया कि संधि का भंग करके फिर लडने के लिए फ्रेंच तथा मराठे एक हुए। इतना करके भी उस निमित्त के सहारे युद्ध करना उन्हें संभव नहीं हुआ, इसलिए सुरत को भेजने का झूठा कारण दर्शाकर उन्होंने लेस्ली को दलबलसमेत जुन्नरपर यकायक आक्रमण करने भेजा। अमरीका को प्रारंभ में हौ जैसे ब्रिटिश सेनापति की सहायता गुप्त रूप से मिली थी और पीछेसे फ्रेंच, स्पैनिश, डच की स्पष्ट मदद मिल गयी। ऐसी दशामें भी महाराष्ट्र-वीरोंने अमरीका के समकक्ष ही प्रारंभ में हार उठाकर अन्त में विजय प्राप्त की थी। वडगांव एवं तळेगाँव के विजय निस्सन्देह साराटोगा एवं यॉर्कटाऊन से तुलना करनेयोग्य हैं। हाँ, यॉर्कटाऊनमें जैसे समूची अंग्रेजी सेना को अमेरिकाके हाथों आत्मसमर्पण करना पडा, वैसे मराठा सैनिक न कर सके। अंग्रेजी सेना पनवेल होते हुए समुद्र पर से बंबई चली गयी। यार्कटाऊन की सेना भी समुद्री राहपर से न्यूयार्क जानेवाली थी, लेकिन समुद्र पर फ्रेंच नाविक सतर्कतापूर्वक निरीक्षण करते थे, अत: वैसे खिसकना संभव नहीं हुआ। भारत में भी अगर इसी तरह फ्रेंचों की सहायता मिल जाती, तो अंग्रेज पनवेलसे बंबई नहीं पहुँच पाते। फ्रेंच सहायता के फलस्वरूप अंग्रेजों को अमरीका से पूरी तरह भगाना संभव हुआ। भारत में ऐसा नहीं हुआ। महाराष्ट्रोंको सहायता देनेवाला कोई नहीं था, अतः ब्रिटिशों का आधिपत्य साष्टी, ठाना एवं वसईपर बना रहा।

चूँकि वसईपर ब्रिटिश प्रभुत्व अक्षुण्ण रह सका, इसी लिए बाजीराव, रघुनाथराव को वहाँ आकर अंग्रेजों से दूसरा सुलहनामा करना संभव हुआ जिस के परिणाम-स्वरूप द्वितीय महाराष्ट्र-युद्ध में महाराष्ट्र-स्वतंत्रता विलुप्त हुई। यदि अमरीका में भी कुछ विभागोंपर ब्रिटिश अपना शासन प्रस्थापित कर पाते तो द्वितीय युद्ध में (१८१२)

वे अमरीकन स्वाधीनता को पुनः उखाड सकते। ध्यान में रहे कि अमरीका एवं भारत के पश्चाद्वर्ती इतिहास में जो इतनी विभिन्नता दीख पडती है, उस का मुख्य कारण यही है कि, अमरीकन स्वातंत्र्येच्छुओं को फ्रान्स की सहायतासे लाभ उठाना संभव हुआ पर महाराष्ट्र के दौर्भाग्य से उसे किसी की भी मदद पाना बदा न था।

अमेरीका को सफलता क्यों मिली ?

इस युद्ध के वर्णन से और भी एक महत्त्वपूर्ण बात सिद्ध होती है कि, अमरीका की तरह महाराष्ट्रने भी उसी समय बडी तत्परता से युद्ध जारी रखा इसीलिए अमरीका को वैसी पूर्ण सफलता मिली। अगर कहीं महाराष्ट्र में इतनी ओजस्विता न होती, यदि बंगाली मुसलमानों के समान ही पहले ही आघातमें परास्त हो प्लासी या बक्सर युद्धों के समान महाराष्ट्र की हार हो जाती, तो अंग्रेजों को आठ वर्षतक युद्ध में लगे रहने का कोई कारण नहीं रहता, और वैसी हालत में वे भारत से बहुतसा द्रव्यबल एवं मनुजबल भी अमरीका भेज सकते। अपने लिये ही सही, लेकिन किसी तरह महाराष्ट्रने आठ सालतक युद्ध प्रचलित रखा, अतः अंग्रेजों का एक हाथ भारत में रुका रहा और अमरीका में एक ही बाहुके सहारे उन्हें समूचा युद्ध लडना पडा। इस का नतीजा यही हुआ कि, अन्त में अंग्रेजों का पराभव हो गया तथा अमरीका को स्वतंत्रता मिली। इस कारण से सच पूछा जाय तो अमरीका को भारत के कृतज्ञ रहना चाहिए। वैसे न करते हुए हरघडी ब्रिटिशों के पराक्रमका गुणगान एवं स्तुतिपाठ करके और भारतीयों में स्वतंत्रता अक्षुण्ण बनाये रखने की क्षमता नहीं ऐसा बतलाकर तथा अन्य उपायों से भारतीयों का तेजोभंग करके अमरीका कृतघ्नता का प्रदर्शन करती है। विचारशील अमरीकन सज्जन इस बातपर खूब सोचें।

अमरीका में व्याख्यान देने के लिए प्रो० गोखलेने उपर्युक्त टिप्पणीयों लिखी थीं। भारतीय पाठकों को भी उन से बहुत कुछ बोध मिलेगा ऐसी आशा रखकर मैंने यह लेख भारत भेजा है।

(मराठी ' पुरुषार्थ ' से अनूदित)

उपनिषद्वाक्यमहाकोशः ।

पूर्वार्ध-उत्तरार्ध-सहितः ।

मूल्य- सहबद्ध १ इट्ठा बँधा हुआ ११) रु तथा पृथक् पृथक् १४) रु.। प्रापणव्ययः V. P. P. १-१२-०

श्रीमच्छंकराचार्य आदि विद्वद्वर्योंने प्रशंसा किए हुए इस उपनिषद्वाक्यमहाकोश को मुंबई विश्वविद्यालय (युनिवर्सीटी आफ् बाँबे), मुंबईसरकार और श्रीमन्त गायकवाड सरकार का बडा आश्रय मिला है। इस ग्रन्थमें लगभग २४० उपनिषदोंके वेदान्त-योग-याग-स्वार्थ-परमार्थसाधक ऐसे ४००० से जियादः अत्युपयोगी वाक्य अकारादि वर्णानुक्रमानुसार लिखे हुए हैं।

मंत्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

‘ वेद-परिचय ’ पुस्तकोंपर संमति ।

एक सज्जन वेद-परिचय के तीनों भागों का अध्ययन करने के बाद लिखते हैं-

गढ गंगापुर, (बनारस) ता. १७।८।४३

श्रीमान् जी !

आप के स्वाध्याय-मण्डल से ‘ वेद-परिचय ’ की तीन पुस्तकें मैंने मंगायी हैं, कुछ वर्षों से मुझे वेदाध्ययन का शौक रहा है। भाष्य आदि का आश्रय लेकर मैंने उस इच्छा की पूर्ति की है, परन्तु आप के वेदपरिचय द्वारा मुझे वैदिक तत्वों का जो बोध हुआ है वह अवर्णनीय है । परमात्मा से प्रार्थना है कि आप दीर्घजीवी हों जिस से मुझ जैसे श्रमजीवी व्यक्ति वैदिक तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सकें। हम दोनों बन्धु ब्राह्मण हैं । हमें वेदाध्ययन की उत्कट अभिलाषा है । अतः निवेदन है कि, ‘ वेदप्रवेश ’ के जितने भाग छपे हों, वे सब वी. पी. द्वारा शीघ्र भेजने की कृपा करें। मेरा पता-

कमलेश शर्मा, रुद्रदेवशर्मा, गढ गंगापुर, (जि. बनारस) यू. पी.

वेद--मन्त्रों का अध्ययन कीजिये ।

वेद के पठनपाठन की परपरा पुनः शुरू करनी है । इस कार्य के लिये हमने पाठ्य पुस्तकें बनायीं हैं और इन पुस्तकों का अध्ययन अनेक नगरों में अनेक सज्जनोंने शुरू किया है-

१. वेदपरिचय परीक्षा ३०० मंत्रोंकी पढाई । मू. ३॥) डा. व्य. ।॥)

२. वेदप्रवेश परीक्षा ५०० ,, ,, मू ४) डा. व्य ।॥)

ये पुस्तकें तैयार हैं । तृतीय परीक्षा ‘ वेदप्राज्ञ ’ की है । इस की पढाई १००० मन्त्रों की है। यह पुस्तक छप रही है । छपनेपर सूचना दी जायगी ।

इन पुस्तकों में अखण्ड सूक्त, मन्त्र-पाठ, पदपाठ, अन्वय, अर्थ, भावार्थ, टिप्पणी, विशेष स्पष्टीकरण, सुभाषित, पुनरुक्त मन्त्र, विस्तृत प्रस्तावना, मंत्रसूची आदि अनेक सुविधाएं हैं ।

सूक्त अखण्ड होने से मन्त्र का पूर्वापर संबन्ध पाठक स्वयं जान सकते हैं। वेदप्रवेश परीक्षा की पढाई में तो एक ही मरुत् देवता के इकट्ठे ५०० मन्त्र हैं । इस से एक ही देवता का सम्पूर्ण अध्ययन आसानी से होगा । एक ही देवता के संपूर्ण मंत्रों का अध्ययन करना अत्यत सुगम और सरल है, क्योंकि बारंवार वे ही पद पुनः पुनः देवता के वर्णन में आते हैं, इसलिये मंत्रों का बोध बडी आसानी से हो जाता है ।

जो पाठक इस तरह वेद का अध्ययन करना चाहते हैं, वे ऊपर लिखी पुस्तकें म० आ० द्वारा मूल्य भेजकर मगा सकते हैं ।

मंत्री- स्वाध्याय-मंडल, औंध (सातारा)

वैदिक स्वप्नविज्ञान।

(५)

(लेखक- श्री० पं० भगवद्दत्त वेदालंकार, गुरुकुल, कांगडी)

आगे कहा कि दिव्य गुणयुक्त वाक् उषा से मिली हुई है। यहां एक शंका पैदा होती है कि, इन दोनों कथनों ' दिव्यगुणयुक्त उषा वाक् से मिली हुई हो ' और ' दिव्यगुणयुक्त वाक् उषा से मिली हुई हो- ' में कोई विशेष भेद प्रतीत नहीं होता। परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से इनपर विचार करें तो इन में बहुत भेद है। इस को हम संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं कि, एक स्थल पर उषा साध्य है और वाक् साधन है। और दूसरे स्थलपर वाक् साध्य है तो उषा साधन है। अर्थात् मन्त्र के प्रथम भाग में उषा को दिव्य बनाने का विधान किया गया है। इसके लिये साधन यह बताया कि वाणी व ज्ञान से उषा का सम्बन्ध करो तो उषा दिव्य बन जायेगी। इसी प्रकार वाक् को दिव्य बनाने के लिये उषा को साधन-रूप में दर्शाया गया है। इस प्रकार उषा और वाग् अन्योन्याश्रित हैं। इसी अन्योन्याश्रितताके भावको मन्त्र में दर्शाया गया है। दूसरा भाव यह भी हो सकता है कि, जिस प्रकार उषा अन्धेरे को दूर कर प्रकाश फैलानेवाली तथा वनस्पति-ओषधियों द्वारा जीवन-रस प्रदान करनेवाली है, उसी प्रकार हमारी वाग् भी अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाली होनी चाहिये और जीवनविनाशिनी न होकर जीवनदायिनी होनी चाहिये। आधुनिक पश्चिमी जगत् की वागूं (ज्ञान) जीवनदायिनी नहीं है, अपितु जीवनविनाशिनी बनी हुई है। इसी प्रकार उषा-काल को हमें दिव्य बनाना चाहिये, अर्थात् उषाकाल हमें सुमार्ग में प्रेरित करनेवाला होना चाहिये। दूसरा साधन है कि, केवल वाक् नहीं, अपितु दिव्य वाक् का उसके साथ संबंध हो। आगे छठे मन्त्र में कहा गया है कि, ' उषस्पति ' अर्थात् सूर्य वाचस्पति के साथ मिला हुआ हो।

ऊपर हमने उषा और वाक् के सम्बन्ध में बताया है। यहाँपर उषस्पति और वाचस्पति के सम्बन्ध में कुछ कहना है। यहाँ एक बात का और ध्यान रखना चाहिये कि सूर्य को यहाँ उषस्पति के रूप में दर्शाया है, इस में भी एक रहस्य है। जिस प्रकार उषा अन्धकार को दूर कर सर्व-प्रथम प्रकाश का सन्देश लानेवाली है और सब को जगा कर कार्य में प्रेरित करनेवाली है, तथा जीवनदायिनी और प्राणसंचारिणी रश्मियों को सब पर बरसानेवाली है, उसी प्रकार उषस्पति से भी प्रार्थना है कि वह अमुक अमुक पदार्थ हमें देवे। अब यहाँपर उषस्पति तथा वाचस्पति का सम्बन्ध क्या बनाता है, यह देखना है। यहाँपर हमारी सम्मति में उषस्पति और वाचस्पति का सम्बन्ध राष्ट्र में करने योग्य कुछ बातों की ओर निर्देश करता है।

उषा और वाक् का सम्बन्ध तो प्रत्येक व्यक्ति की ओर निर्देश करता है और यह शिक्षा देता है कि उषाकाल में प्रत्येक मनुष्य को दुःस्वप्न्यादि दुर्गुणों को दूर करने के लिये अमुक अमुक कार्य करने चाहियें। परन्तु उषस्पति और वाचस्पति का संबंध राष्ट्र में सामूहिक रूप से आज्ञा देकर अमुक अमुक कार्य करवाने की ओर निर्देश कर रहा है। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड में उषस्पति अर्थात् सूर्य उषा के ऊपर नियन्त्रण रखकर उषा के द्वारा सब कार्य करवाता है, उसी प्रकार वाचस्पति का कर्तव्य है कि वह भी उषस्पति के समान प्रजा में दिये जानेवाले ज्ञानपर नियन्त्रण रखकर उचित ज्ञान का प्रसार करवावे। अर्थात् प्रजा को विपरीत ज्ञान न पहुंचे, इसके ऊपर वह अच्छी तरह से नियन्त्रण रखे। इस का भाव यह है कि वाचस्पतिने प्रजा में से दुःस्वप्न्य आदि दुर्गुण दूर करने के लिये उषस्पति सूर्य को अपना सहायक बनाया हुआ है। वह उषस्पतिके द्वारा प्रजा को तरह तरह के लाभ पहुंचाता है अर्थात् सूर्य को अपने नियन्त्रण में रखकर वह प्रजा को लाभ पहुंचाता है। इसी बात को मन्त्र में इस प्रकार कह दिया कि उषस्पति वाचस्पति से जा मिला। आगे कहा है कि-

' अब वाचस्पति उषस्पति अर्थात् सूर्यसे मिला हुआ हो।'

इस का भाव यह है कि, वाचस्पति राष्ट्र में उषस्पति अर्थात् सूर्य द्वारा प्रजा का भला तभी कर सकता है, जब कि वह उषस्पति से मिला हुआ हो। अर्थात् उषस्पति सूर्य के समान हो। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड में सूर्य का स्थान है, वही राष्ट्र में वाचस्पति का हो। वाचस्पति को यह चाहिये कि जिस प्रकार सूर्य ब्रह्माण्डमें प्रकाश, ज्ञान तथा ओजस्वदायिनी रश्मियों को फैलाकर अपना कार्य करता है, उसी प्रकार वाचस्पति भी राष्ट्रमें प्रकाश फैलावे। अज्ञान को दूर कर ज्ञान का प्रसार करे। इस प्रकार अपनी नियमरूपी रश्मियों को फैलाकर राष्ट्र में नवस्फूर्तिदायक प्राणसचार कर दे। यह तभी कर सकता है जब कि वह उषस्पति सूर्य से मिला हुआ हो। अर्थात् उस से रातदिन शिक्षा लेता हो। उस के समान अपने को बनाये हुए हो। जो वाचस्पति उषस्पति से मेल नहीं करता अर्थात् उस के समान नियमों का पालन नहीं करता, वह राष्ट्र की प्रजा में से दुस्वप्न आदि दुर्गुणों को दूर नहीं कर सकता। यहाँ पर ' संविदानः ' के दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो भली प्रकार ज्ञान प्राप्त करना (सं-विद् ज्ञाने), दूसरा भली प्रकार लाभ प्राप्त करना (विदूल्ट लाभे)। इस प्रकार मन्त्र का सामान्य भाव यह हो सकता है कि, उषस्पति सूर्य वाचस्पति से मिला हुआ है अर्थात् प्रजा का भला करने में वाचस्पति का सहायक बना हुआ है और वाचस्पति भी प्रजा का भला तभी कर सकता है जब कि वह उषस्पति से मिला हुआ हो। अर्थात् अपने को उस के समान गुणोंवाला व सामर्थ्यवाला बनावे और उस से ज्ञान प्राप्त करे।

इस प्रकार वाचस्पति उषस्पति सूर्य के द्वारा प्रजा को लाभ पहुंचा कर तथा अपने को उस के समान बनाकर प्रजा पर नियंत्रण रखकर दुस्वप्न्यादि दुर्गुणों को दूर कर सकता है।

आगे ७ वें मन्त्र में कहा कि ये सब उषा, वाग्देवी, उषस्पति और वाचस्पति इस मनुष्यमें से अरायों, दुर्णामों आदि को दूर करें। अब ये अराय आदि क्या हैं इस पर संक्षेप से प्रकाश डालते हैं। ये अराय आदि मानसिक तथा शारीरिक दोनों प्रकार के कष्ट हैं।

१ अरायान्- ऐश्वर्य आदि के अभावसे जो मानसिक तथा शारीरिक दोनों प्रकार के कष्ट हैं।

२ दुर्णामा- दुर्नाम के सम्बन्ध में श्री. पं. क्षेमकरणदासजी ने अपने अथर्व, ८।६।१ में इस प्रकार लिखा रखा है, वही हम यहां दिये देते हैं—

(दुर्णामा) दुरं दुष्टं नाम यस्य दुर्णामा
क्रिमिर्भवति पापनामा। (निरु. ६।१२)
पापनामा पापप्रदेशी नतः परिणतः उत्पन्नः।
इति देवराज यज्वा निरुक्त-टीकाकारः।
अथवा नाम उदकम् (निघं. १।१२) अतिक्रूर-
रोगः दुर्नाम अर्शो रोग इति शब्दकल्पद्रुमः।
अर्थात् दुर्नाम के अर्थ दो हो सकते हैं।

(अ) एक तो बुरे नामादि से सम्बोधन करना अर्थात् दुर्वचन कहना गाली गलौच आदि देना।

(आ) दूसरे शारीरिक रोग अर्श आदि का होना।

३ सदान्वा १. सदा कोसते रहना।
२. सदा चिल्लानेवाली शारीरिक पीडायें।

४ कुम्भीका- १. घडे के समान अभिमान से कुप्पा बना देनेवाली वृत्ति।
२ घडे के समान पेट को फुला देनेवाली शारीरिक व्याधि जलोदर आदि।

अगले मन्त्र में कहा कि जागते हुए हम जो बुरे बुरे स्वप्न लेते हैं अथवा सोते हुए बुरे बुरे स्वप्न देखते हैं, इन सब को उषा, उषस्पति आदि दूर करें।

अगला मन्त्र इस प्रकार है—

अनागमिष्यतो वरानवित्तेः संकल्पानमुच्या द्रुहः
पाशान्। तदमुष्मा अग्ने देवाः परा वहन्तु वध्रि-
र्यथासद् विथुरो न साधुः॥ (अ. १६, ६, १०-११)

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों को न आनेवाले अवित्ति के संकल्पों को तथा न छूटनेवाले द्रोह के पाशों को- इत्यादि उपयुक्त सब बातों को, हे अग्ने! ये उषा आदि देव पापरूप स्वप्न आदि के लिये फैंके, जिस से कि वह व्यर्थ का स्वप्न बधिया हो जाये। साधु स्वप्न बधिया न हो।

आगे ऋग्वेद के कई मन्त्रों में त्रित, द्वित आदि में से दुष्वप्न्य को दूर करने के लिये उषा से प्रार्थना की गई है। ये त्रित द्वित आदि क्या हैं? इनका विस्तृत विवेचन तो

अन्यत्र ही किया जायेगा। परन्तु दुष्वप्न्य को दूर करनेमें त्रित, द्वित आदि क्या हो सकते हैं, यह हम स्पष्ट करनेका प्रयत्न करते हैं।

यास्क ४।६ में इस प्रकार आता है- **त्रितस्तीर्णतमो मेधया बभूव। अपि वा संख्यानामैवाभिप्रेतं स्यात् एकतो द्वितस्त्रितः इति त्रयो बभूवुः।** अर्थात् मेधा से तीर्णतमको त्रित कहते हैं। अथवा त्रित का यहां संख्या से अभिप्राय है। एकत, द्वित और त्रित ये तीन थे इनमें से तीसरा त्रित है। और ९।२५ में त्रित की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है- " **त्रितः त्रिस्थानः** " अर्थात् तीन स्थानों में पहुंचे हुए को त्रित कहते हैं। वेद में ये तीनों आप्त्य कहे गये हैं। अब इन व्युत्पत्तियों के आधार पर आप्त्य त्रित कौन है, यह निर्णय करते हैं।

त्रित आप्त्य—

पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक इन तीनों में व्याप्त होता हुआ भी आप्त पुरुषों की अन्तरात्मा में निवास करनेवाला वह परमात्मा त्रित आप्त्य कहला सकता है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर मन्त्र का अर्थ इस प्रकार हो सकता है।

यच्च गोषु दुष्वप्न्यं यच्चास्मे दुहितर्दिवः।
त्रिताय तद्विभावर्याप्त्याय परा वहानेहसो व
ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः। (ऋ. ८।४७।१४)

हे "(दुहितर्दिव.) उषा, (यत् गोषु दुष्वप्न्यं) जो हमारी इन्द्रियोंमें दुष्वप्न्य है (यच्च अस्मे) और जो हमारी आत्मा में है। हे (विभावरि) विशेष दीप्तिवाली उषा, (तत्) वह दुष्वप्न्य तू (त्रिताय आप्त्याय) तीनों लोकों में विद्यमान तथा आप्त पुरुषों की अन्तरात्मा में प्रकाशित होनेवाले परमात्मा की प्राप्ति के लिये (परा वह) दूर कर, तुम्हारी रक्षाएँ पापरहित हैं और उत्तम हैं।"

यहां पर परमात्मा को 'त्रित आप्त्य' रूप में स्मरण करने का भाव यह है कि, उषाकाल में परमात्मा के सर्व व्यापकता के रूप को स्मरण करके मनुष्य यह सोचे कि मेरे सब दुष्कर्मों दुःसंकल्पों को वह देख रहा है, इन का मुझे वह दण्ड देगा, तो मनुष्य आसानी से इन दुष्वप्न्यों को छोड देता है। और फिर मनुष्य यह भी सोचता है कि सर्वत्र व्यापक होता हुआ भी परमात्मा यदि कहीं दृष्टिगोचर हो सकता है तो वह आप्त पुरुषों की अन्तरात्मा में ही हो सकता है। इसलिये उस सर्वव्यापक प्रभु के दर्शन करने के लिये मुझे भी आप्तपुरुष बनना चाहिये। इस प्रकार सोचकर वह मनुष्य दुष्वप्न्यों को छोड देता है।

त्रित आप्त्य का दूसरा भाव भास्कराचार्य के अनुसार यह हो सकता है कि मेधाशक्ति में तीर्णतम तथा आप्त पुरुषों की श्रेणी में आने योग्य। इसलिये त्रित आप्त्य बनने के लिये यह आवश्यक है कि, आलस्य आदि दुष्ट स्वप्न के सब दोषों को दूर किया जाये। इसलिये उषा से प्रार्थना की है कि, हम में से दुष्वप्न्यादि दुर्गुणों को दूर करके हमें मेधाशक्तिसम्पन्न तथा आप्त पुरुषोंके योग्य बना।

महर्षि दयानन्दने त्रित का एक अर्थ मन, वाक् और कर्म यह किया है। दुष्वप्न्य के प्रकरण में यह भी बहुत सुन्दर रूप में घटता है। मन से हम दुष्वप्न लेते हैं, वाणी से उच्चारण करते हैं और कर्म से हम उसको क्रिया में परिणत करते हैं। इस प्रकार दुष्ट स्वप्न इन तीनों में निवास करता है। इन तीनों में से दुष्वप्न्य निकालने के लिये यह आवश्यक है कि, हम मन, वाक् और कर्म इन तीनों को आप्त पुरुषों के योग्य बनावे।

अथवा आप्त्य का अर्थ आप्लृ-व्याप्तौ धात्वर्थ के आधार पर व्यापक करने पर भाव यह होगा कि, इन तीनों को हम अपने अपने कार्यक्षेत्रों में व्यापक बनावें। इस कार्य में प्रेरणा उषा अच्छी प्रकार कर सकती है।

इसी प्रकार त्रित के और भी अनेकों अर्थ हो सकते हैं। अगला मन्त्र इस प्रकार है-

निष्कं वा घा कृणवते स्रजं वा दुहितर्दिवः।
त्रिते दुष्वप्न्यं सर्वमाप्त्ये परिदद्मसि०॥
(ऋ० ८।४७।१५)

" (निष्कं वा कृणवते) सुवर्णाभरणको धारण करनेवाले तथा (स्रजं वा) माला आदि धारण करनेवाले के लिये जो हमारे अन्दर (दुष्वप्न्यं) बुरे विचार पैदा होते हैं। (दुहितर्दिवः) उषा, (सर्वं) वह सब दुष्वप्न्यादि बुरे विचार (त्रिते आप्त्ये) तीनों लोकों में विद्यमान तथा आप्तपुरुषों के हृदय में प्रकट होनेवाले परमात्मा के प्रति (परिदद्मसि) सुपुर्द कर देते हैं।"

इस मन्त्र में मनुष्य में दुष्वप्न्य पैदा करनेवाले दो कारण बताये गये हैं। एक सुवर्ण के आभूषणों का धारण

करना और दूसरा माला आदि धारण करना। स्वर्ण के आभूषणों को धारण करना तो एक उपलक्षण है। इसका भाव यह है कि, जिस मनुष्य के पास ऐश्वर्य आदि प्रभूत मात्रा में होता है, वह दूसरों में ईर्षा आदि पैदा करने में कारण बनता है। अन्य मनुष्य उसके ऐश्वर्य को हथियाने के लिये सदा षड्यन्त्र सोचते रहते हैं। इसी प्रकार दुष्ट स्वप्नों को पैदा करनेवाला दूसरा कारण माला आदि धारण करना बताया है। माला आदि भी यहां कृत्रिम सौन्दर्य के उपलक्षण हैं। अर्थात् गन्ध, तैल व फुलेल आदि लगाकर और अपने को माला आदि द्वारा खूब सजाकर जो मनुष्य व स्त्रियां बाहिर आम मनुष्यों में निकलती हैं, वे साधारण मनुष्यों के मनों में विक्षोभ पैदा करनेवाली होती हैं। इनको देखकर मनुष्यके मनका पतित होना स्वाभाविक है। इन दोनों को विनाश करने का उपाय वेदमें त्रित आप्त्यके प्रति अपने दोषों को स्वीकार करना बताया गया है।

अगला मन्त्र इस प्रकार है—

तदन्नाय तदपसे तं भागमुपसेदुषे।
त्रिताय च द्विताय चोषो दुष्वप्न्यं वह० ॥
(ऋ० ८।४७।१६)

अर्थात् उस अन्न के लिये, उस कर्म के लिये, अथवा उस भाग को प्राप्त करने के लिये, जो हम दुष्वप्न्य लेते हैं, हे उषा! तत्सम्बन्धी वह दुष्वप्न्य तू त्रित और द्वित के लिये दूर कर।

त्रित, द्वित और एकत इन तीनों का क्या स्वरूप है और इन का परस्पर क्या सम्बन्ध है, इत्यादि बातें अभी विचारणीय हैं।

१६ वें काण्ड के ५ वे सूक्त में दुष्वप्न्य के जो कारण बताये गये हैं वे सब राष्ट्र व समाज की व्यवस्था पर निर्भर करते हैं। इसलिये इस सूक्त का सम्बन्ध राष्ट्र व समाजसे है। सूक्त में भी प्रत्येक मन्त्र के प्रारम्भ में कहा गया है कि, 'विद्म ते स्वप्न जनित्रम्' अर्थात् हे स्वप्न! हम तेरी उत्पत्ति को जानते हैं। यहां 'विद्म' यह बहुवचन का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि राष्ट्र व समाज की तरफ से यह प्रबन्ध होना चाहिये कि राष्ट्र व समाज का प्रत्येक व्यक्ति ग्राही, अभूति आदिके दुष्परिणामोंको जानता हो। और ये अभूति, निर्भूति आदि भी किसी एक व्यक्ति के कर्मों का परिणाम नहीं है। यह तो राष्ट्र व समाज के नियमों का परिणाम है। इसलिये जो दोष व न्यूनताएँ मनुष्य में राष्ट्र की अव्यवस्था के कारण आती हैं, उन को दूर करना राष्ट्र का कर्तव्य है। मनुष्य में दुष्वप्न्य का पैदा होना स्वाभाविक है। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी प्रकार इस का शिकार हो ही जाता है। इसलिये सब को मिलकर इस को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। वेद भी 'विद्म' इस बहुवचन के प्रयोग से यही बताता है।

अगले सूक्त का भाव यह है कि राष्ट्र-नियमों की अव्यवस्था के कारण जो ग्राही, अभूति, निर्भूति आदि समाज में प्रवेश करके दुष्परिणामों को पैदा कर रही थीं, उन पर सबने मिलकर विजय प्राप्त कर ली। राष्ट्र व समाज में से अव्यवस्थाएँ दूर कर दीं और जो व्यवस्थाएँ लानी चाहिये थीं वे लायी गयीं। अभूति आदि पर विजय प्राप्त करने तथा नयी व्यवस्थाएँ पैदा करने के लिये आवश्यक यह था कि सब निष्पाप होवें। इसीलिये मन्त्र में कहा कि 'अभूमानागसो वयम्' अर्थात् हम निष्पाप हो गये हैं। ऐसी निष्पापियों की समाज में तो प्रत्येक व्यक्ति को आना चाहिये। जो इन निष्पापियोंकी समाजमें नहीं आता है, वह इनका शत्रु है। इन का शत्रु पापी व्यक्ति ही हो सकता है। ऐसे व्यक्ति को तो राष्ट्र व समाज का कोई भी लाभ नहीं मिलना चाहिये। जहां ऐसी सांझी उन्नति का विचार पैदा होगा वहां स्वार्थी व पापी मनुष्य उन से (द्विषते) द्वेष करेगा और उन्हें (शपते) कोसेगा। ऐसे स्वार्थी व पापी मनुष्य के लिये वेद आज्ञा देता है कि—

'द्विषते तत्परा वह शपते तत्परा वह'।
'यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तस्मा एनद् गमयामः'
(अथर्व० १६, ६, २-४)

अर्थात् उस पापी मनुष्य के लिये हम दुष्वप्न्य भेजते हैं। इस का भाव यह है कि उस द्वेष करनेवाले व कोसनेवाले व्यक्ति में दुष्वप्न्य पैदा करने के लिये उसे हम (अभूति) गरीब रखें और यदि वह ऐश्वर्यवान् हो तो उसके सब ऐश्वर्यको हम (निर्भूति) छीन लें और पग पग पर उस का पराभव करें। उसे (निर्ऋति) सब प्रकार का कष्ट देवें।

परन्तु क्या वेद का पापी मनुष्य के लिये यही अन्तिम आदेश है? क्या किसी पापी मनुष्य में भी दुष्वप्न्य पैदा

करना वेद को अभीष्ट है ? अगले सूक्त को देखने से प्रतीत होता है कि, वेद पापी मनुष्यको यहीं नहीं छोडता, वह उस को सुधारने की आज्ञा देता है। परन्तु सुधारने से पहिले अभूति, निर्भूति आदि के दुष्परिणामों को उसे अवश्य भोग लेना चाहिये। जबतक वह इनके दुष्परिणामों को नहीं भोगता, तबतक उस के सुधरने की आशा कम है। इसलिये अगले सूक्त के प्रथम मन्त्र में ऐसे स्वार्थी व पापी मनुष्य को अभूति आदि द्वारा बाँधने की आज्ञा दी गई है। मन्त्र में कहा है कि, मैं ऐसे स्वार्थी व पापी मनुष्य को अभूति आदि से बाँधता हूँ। अर्थात् जो गरीब है, उसे गरीब ही रहने देता हूँ और जो ऐश्वर्यवान् है, उस से (निर्भूति) ऐश्वर्य छीन लेता हूँ।

इतने पर भी जो नहीं मानता, उस का पग पग पर पराभव करता हूँ। या तो उसे चिंता आदि ग्राही आ लगती है, अन्यथा उसको (ग्राही) हथकडी व बेडियों द्वारा जकड लेता हूँ। और फिर उसे (तमस्) अन्धकार अर्थात् दुनिया से पृथक् करके कैदखाने में डाल देता हूँ। इस के अनन्तर सुधार के लिये देवपुरुषों के सामने लाता हू। वे इसे झिडकते है, दुत्कारते हैं और पापों को व दुष्वप्न्यों को त्यागने के लिये घोर व क्रूर आज्ञाएँ देते हैं। जो अपराधी इन देवपुरुषों की भी परवाह नहीं करता, उसे वैश्वानर पुरुष के सामने पेश करता हूँ। वैश्वानर पुरुष वह होता है जो अच्छे व बुरे सभी मनुष्यों का बिना किसी पक्षपात के भला करता है। इस वैश्वानर पुरुष पर सब अच्छे व बुरे मनुष्यों का विश्वास होता है। ऐसे वैश्वानर पुरुष की प्रेरणा से बुरे आदमी के सुधरने की बहुत सम्भावना है।

वह उसे सुधारनेके अनेकों उपाय करता है और उस पापीमें यह आत्मग्लानि पैदा कर देता है कि, ये सब श्रेष्ठ व निष्पाप मनुष्य मुझसे द्वेष करते हैं, मैं कितना पतित हूँ। इस प्रकार आत्मग्लानि के पैदा होने पर उसे 'सुयामन् और चाक्षुष' मनुष्य के पास सुधार के लिये भेजा जाता है। वह उस पर नियन्त्रण रखकर बुरी आदतों को दूर करता है और श्रेष्ठ मार्ग बताता है, अच्छे व बुरे में विवेक करने की दृष्टि देता है। उस सुयामन् तथा चाक्षुष चिकित्सक के मानसिक चिकित्सालय (Mental Hospital) में रहकर वह पापी शनैः शनैः सुधरता है। जिस समय भी उस पर दुष्वप्न्य का प्राबल्य हो, उस समय उचित उपायोंद्वारा उसे दूर किया जाता है। अन्तमें वह दुष्वप्न्य इतना क्षीणशक्ति हो जाता है कि उस की पसलियां तोडने व मारने की मन्त्र में आज्ञा दी गई है।

आगे ८ वे सूक्त में भिन्न भिन्न प्रकार के दुष्वप्न्य लेनेवालों को भिन्न भिन्न सुधारकों के पाशों में जकडा गया है। जो जिस प्रकार के पाश से सुधर सकता है, उस को उसी प्रकार के पाश में बांधा गया है। एक प्रकार से दुष्वप्न्य को ही पाश में बांधा गया है। मनुष्य जब दुष्वप्न्यादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेता है और नानाविध ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है, तब वह दिव्य-प्रकाश व दिव्य-आनन्द में विचरता है। यही भाव ९ वें सूक्त में प्रकट किया गया है।

(१) दुष्वप्न्य को बाँधना-

तेनैनं विध्याम्यभूत्यैनं विध्यामि निर्भूत्यैनं विध्यामि पराभूत्यैनं विध्यामि ग्राह्यैनं विध्यामि तमसैनं विध्यामि। (अ. १६।७।१)

अर्थात् उस से इसको बाँधता हूँ। अभूति, निर्भूति, पराभूति, ग्राही तथा तमस् से इसको बाँधता हूँ।

इस मन्त्र में दुष्वप्न्य को अभूति आदि साधनों से बाँधा गया है। अभूति आदि जहां एक तरफ दुष्वप्न्य को पैदा करनेवाली हैं, वहां दूसरी तरफ ये दुष्वप्न्य का विनाश भी करनेवाली हैं। जैसे एक मनुष्य ऐश्वर्याभाव में नाना भांति के दुष्वप्न्य लेता है। उस की यह इच्छा होती है कि, झूठ, सच, तथा छल, कपट आदि जैसे भी हो, ऐश्वर्य अवश्य मिल जाये। इस के लिये वह नाना-भांति के षड्यंत्र रचता है। ऐसे मनुष्य में से दुष्वप्न्य को दूर करने का तरीका यह है कि, वह मनुष्य ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिये सब कुछ करते हुए भी अभूति में ही रहे। ऐसा होने पर वह दुष्वप्न्य को व्यर्थ समझकर उसे त्याग देगा और जहां निर्भूति से दुष्वप्न्य पैदा हों वहां निर्भूति को सामान्य बात बना दिया जाये। इससे निर्भूति का दुष्वप्न्य पैदा करने का प्रभाव जाता रहेगा। इसी प्रकार पराभूति के सम्बन्ध में समझना चाहिये।

जिस प्रकार इस मन्त्र में अभूति आदि दुष्वप्न्य को बाँधने के साधन बताये गये हैं, उसी प्रकार "तेनैनं विध्यामि" इस वाक्य में 'तेन' पद किसी विशेष साधन का द्योतक नहीं है। परन्तु यह इस भाव का सोतक है कि, अभूति आदि साधनों के अतिरिक्त जो दुष्वप्न्य जिस जिस से भी विन्ध सकता हो, उस को उस उस से बींध देना चाहिये।

यहां एक बात और विचारणीय है और वह यह कि जहां अभूति आदि स्वप्न की माताएँ गिनाई हैं, वहां क्रम कुछ और है। और यहाँ दुष्वप्न्य को बाँधने के प्रकरण में क्रम कुछ और है और कुछ परिवर्तन भी है।

इत्यादि बातें क्यों हैं? इस पर विद्वान् लोग विचार करें। हम भी किसी अन्य अवसर पर आप के सामने अपने विचार रक्खेंगे।

(२) देवों की घोर व क्रूर आज्ञा–

द्वितीय मन्त्र में दुष्वप्न्य को दूर करने का एक और उपाय बताया गया है, जो कि, इस प्रकार है–

देवानामेनं घोरैः क्रूरैः प्रैषैरभिप्रेष्यामि।

(अ. १६।७।२)

अर्थात् इस स्वप्न को मैं देवों (इंद्रियां, दिव्य भाव, देव पुरुष) की घोर तथा क्रूर आज्ञाओं से दूर भगाता हूँ।

दुष्वप्न्य को दूर करने का यह भी श्रेष्ठ उपाय है। परन्तु विचारणीय यह है कि, इस स्थल पर देवों द्वारा दुष्वप्न्य को दूर भगाने का विधान है और अ. ६।४६।१ में स्वप्न को "देवानाममृतगर्भोऽसि" अर्थात् देवों का अमृत गर्भ बताया गया है। इस से यह पता चलता है कि, स्वप्न कभी भी विनष्ट होनेवाला नहीं है। ऐसी अवस्था में इस उपर्युक्त मन्त्रद्वारा दुष्वप्न्य को विनाश करने व दूर करने का जो आदेश है, उस का यही भाव प्रतीत होता है कि, मनुष्य दुष्वप्न्य का पूर्णतया समूलोच्छेद व बीज-विनाश तो सम्भवतः न कर सके। परन्तु उसको प्रकट होने व प्रबल होने से अवश्य रोक सकता है। मनुष्य में स्वप्न अच्छे व बुरे रूप में अथवा बीजरूप में अवश्य विद्यमान रहता है। इसीलिये श्रेष्ठ व सन्त महात्मा लोग भी कभी न कभी दुष्वप्न्य के शिकार बन ही जाते हैं। यह सम्भव है कि, प्रयत्न द्वारा उसे इतना क्षीणशक्ति कर दिया जावे कि, जीवन के सम्पूर्ण भाग में वह कभी दृष्टिगोचर ही न हो, यदि हो भी तो बहुत कम। इसी अवस्था की प्राप्ति के लिये दुष्वप्न्य के विनाश का वर्णन किया गया है। दुष्वप्न्य विनाश का दूसरा भाव यह भी हो सकता है कि, बुरे स्वप्नों का स्थान अच्छे स्वप्न ले लें। इससे स्वप्न अमृत भी रहेगा और दुष्वप्न्य का विनाश भी हो जायेगा। यही भाव अ. १९।५७।३ में इस प्रकारसे कहा गया है कि, "यो भद्रः स्वप्न स मम यः पापस्तद् द्विषते प्रहिण्मः" अर्थात् हे स्वप्न! जो तेरा भद्र रूप है वह तो मेरा है और जो पापरूप है वह शत्रु का है। इस प्रकार स्वप्न एक रूप में अमृत भी है और दूसरे रूप में विनाश के योग्य भी है। इन्द्रियों द्वारा दुष्वप्न्य को घोर आज्ञा देने का भाव यह है कि, इंद्रियों को अन्तर्मुख कर के उनकी देवशक्ति को प्रबल बनाकर दुष्ट स्वप्न को आज्ञा दे कि, अब तेरा यहां कोई स्थान नहीं, अब तू यहां से निकल जा।

दूसरा देव का अर्थ है दिव्य भाव। मन में दिव्य व आसुरी दोनों प्रकार के भाव पैदा होते हैं। इन में परस्पर संघर्ष होता रहता है। अतः आसुरी भावों से उत्पन्न दुष्वप्न्यों को विनष्ट करने के लिये दिव्य भावों का प्राबल्य पैदा करना चाहिये। इस प्रकार दिव्य भावों की प्रबलता से दुष्ट स्वप्न स्वयं दूर चले जायेंगे।

तीसरे देव सन्त महात्मा व दिव्य पुरुष हो सकते हैं। दुष्वप्न्यों को दूर करने के लिये जो भी कठोर तपस्या व नियंत्रण वे करें, उन का पालन करना चाहिये। ये ही तपस्या तथा नियन्त्रणादि दुष्वप्न्यों को दूर होने के लिये उन की घोर आज्ञाएँ हैं। इस प्रकार वेद-मन्त्र से हमें यह पता चला कि, देवों अर्थात् इंद्रियों, दिव्य भावों व देव पुरुषों की घोर व क्रूर आज्ञाओं से दुष्वप्न्यादि को दूर किया जा सकता है।

(३) वैश्वानर की दाढ–

अगले मन्त्र में दुष्वप्न्य के विनाश का एक और उपाय बताया है।

वह इस प्रकार है–

'वैश्वानरस्यैनं दंष्ट्रयोरपि दधामि'।

(अथर्व. १६।७।३)

अर्थात् मैं दुष्वप्नरूपी शत्रु को वैश्वानर की दाढ में धरता हूं।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि, यह वैश्वानर कौन है? वेदों में वैश्वानर अग्नि को भी कहा गया है। किंतु यह वैश्वानर अग्नि कौनसी है? इस का स्वरूप क्या है? इत्यादि बातों का स्पष्टीकरण इस वैश्वानर शब्द की व्युत्पत्ति के अन्दर ही निहित है। वैश्वानर शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है– "विश्वेभ्यो नरेभ्यो हितः" अर्थात् विश्व नरों के लिये हितकारी। इस से स्पष्ट है कि, वैश्वानर जो भी हो वह संपूर्ण मनुष्यों के लिये मंगलकारक होना चाहिये। दुष्वप्नों को दूर करने का यह वैश्वानर सर्वोत्तम उपाय है। मनुष्य अपने अन्दर वैश्वानर अग्नि को धारण करें और उस के आधार पर कोई वैश्वानर यज्ञ रचे तो ये दुष्वप्न सर्वथा विनष्ट हो जायेंगे। क्योंकि दुष्वप्नों की उत्पत्ति, अभूति, निर्भूति, पराभूति आदि से ही होती है। और यह अभूति आदि अवस्थायें मनुष्य के संकुचित मन को सूचित करती हैं।

मनुष्य की सीमा जब बहुत परिमित होती है, उस का मानसिक क्षेत्र जब अपने व अपने सम्बन्धियों तक ही सीमित होता है, तभी अभूति निर्भूति आदि मनुष्य पर अत्यधिक प्रभाव डालती हैं। परन्तु जब मनुष्य इस संकुचित सीमा को छोडकर वैश्वानररूपी विशाल व विस्तृत सीमा का अङ्गीकार करता है, तब स्वप्न स्वयं ही विलीन हो जाते हैं। वैश्वानर अग्निवाले मनुष्य पर अभूति व निर्भूति आदि क्या असर दिखायेगी? वह तो स्वयं ऐश्वर्य को लुटाता है, उस वैश्वानर यज्ञ में सर्वस्व होम देता है। संपूर्ण ऐश्वर्य ही क्या अपने तक को उस में ही भस्म कर देता है। अतः इस की पराभूति भी क्या? इस का अपना कोई नहीं, वह तो "अहम्" से "वयम्" की अवस्था में जा पहुंचता है। अत. "अहम्" की अवस्था में पैदा होनेवाले ये दुष्वप्न "वयम्" की अवस्था आने पर स्वयं विलीन हो जाते हैं। वेद इस मन्त्र के द्वारा दुष्वप्न को दूर करने का यही उपाय बताता है कि, दुष्वप्न को वैश्वानर की दाढ में धर दो।

इसी वैश्वानर भावना के सम्बन्ध में अगले मन्त्र में कहा है कि–

"एवानेवाव सा गरत्।" (अथर्व. १६।७।४)

अर्थात् वह वैश्वानर की दाढ उस दुष्वप्न-रूपी शत्रु को इस प्रकार से या उस प्रकार से निगल जाये।

इस मन्त्र से क्या भाव टपकता है? यह समझाने से पूर्व एक शंका पैदा होती है, वह मैं आप के सामने रख देना चाहता हूं।

जितने भी आर्ष ग्रन्थ हैं, सभी एक स्वर से वेदों को परमात्मा का ज्ञान मानते हैं। और यह भी स्वीकार करते हैं कि वेद सर्व-सत्य-विद्याओं का भण्डार है। इस दृष्टि से यदि हम सोचे तो क्या मन में ये भाव नहीं पैदा होते है कि, चारों वेदों के थोडे से मंत्रों में कोई मन्त्र क्या, कोई शब्द भी व्यर्थ न होना चाहिये। किन्तु यह मन्त्र स्थूल दृष्टि से देखने में व्यर्थ मालूम पडता है। इस कथन (Statement) की क्या आवश्यकता थी कि, वैश्वानर की दाढ दुष्वप्न्य को इस तरह से या उस तरह से निगल जाये। अतः इस मन्त्र की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचारें तो इस में एक बडे गंभीर व गूढ रहस्य का पता चलता है। और वह यह है कि, वैश्वानर अग्नि कई तरह की होती है, किसी में वैश्वानर अग्नि इस रूप में प्रकट होती है कि, वह यह समझता है कि, विश्व नरों का हित गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली के उद्धार में है। किसी को अछूतोद्धार के रूप में और किसी को गो-जाति के उद्धार में विश्व नरों का हित दिखाई देता है। इसी आधार पर वे अपने अपने वैश्वानर यज्ञ को रचते हैं।

अब इन वैश्वानर अग्नि धारण करनेवालों तथा उन के अनुयायियों में प्राय एक न्यूनता देखी जाती है और वह यह कि वे अपने वैश्वानर यज्ञ को ही विश्व नरों के हित में एक मात्र और अन्तिम साधन समझते हैं। एक की दृष्टि में दूसरा वैश्वानर यज्ञ गौण होता है। परन्तु इस के विपरीत वेद के इस मन्त्र द्वारा यह ध्वनि निकलता है कि, कोई भी वैश्वानर अग्नि गौण नहीं है। सब एक समान है और सब ही मनुष्यों का हित करनेवाली हैं। और सब में यह शक्ति है कि, वे मनुष्य के दुष्वप्न को दूर कर सकती हैं। इसलिये मनुष्य को अपनी अपनी रुचि व स्वभाव के अनुसार दुष्वप्न्यों को दूर करने के लिये वैश्वानर अग्नि

प्रज्वलित करनी चाहिये। और तदनुसार ही वैश्वानर यज्ञ में अपने को होम देना चाहिये। इस मन्त्र से शायद कुछ और भी ध्वनि निकलती हो, विद्वान् इस पर विचार करें।

(४) दुष्वप्न्य के प्रति द्वेषबुद्धि-

अगले ५ वें मन्त्र में दुष्ट स्वप्न को दूर करने का एक और उपाय बताया गया है। वह इस प्रकार है-

योऽस्मान् द्वेष्टि तमात्मा द्वेष्टु यं वयं द्विष्मः स आत्मानं द्वेष्टु। (अ. १६।७।५)

अर्थात् जो हमसे द्वेष करता है, उस को हमारा आत्मा द्वेष करे और जिस से हम द्वेष करते हैं, वह स्वयं अपने से द्वेष करने लगे।

इस उपर्युक्त मन्त्र के भाव को ठीक ठीक समझने के लिये हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि मन्त्र में एक ' अस्मान् ' शब्द है जो कि बहुवचन में होने के कारण समाज का निदर्शक है; और फिर प्रथम मन्त्र के आधार पर समाज भी ' अनागसः ' निष्पापियों की समाज है। इस निष्पापियों की समाज से द्वेष करनेवाला पाप व पापी व्यक्ति ही हो सकता है। इसलिये व्यक्ति का निदर्शक मन्त्र में ' यः ' शब्द है। अर्थात् पापी व्यक्ति और निष्पापी समाज का झगडा है। इन दोनों के द्वेष में मन्त्र कहता है कि, जो हम से द्वेष करता है उस से हमारा आत्मा द्वेष करे। दुष्वप्न्य हम से द्वेष करते हैं, ये हमें हानि पहुचाते हैं, अतः ये हमारे शत्रु हैं। हमारी आत्मा को चाहिये कि वह उन से द्वेष करे, कभी भी उन्हें अपने अन्दर स्थान न दे। और हम उन से इतना द्वेष करें कि जिस से उन में आत्मग्लानि पैदा हो जाये। इसी भाव को मन्त्र में निम्न प्रकार से कहा कि-

' यं वयं द्विष्मः स आत्मानं द्वेष्टु '

अर्थात् जिस से हम द्वेष करें, वह अपने आप से द्वेष करने लगे। मानवीय क्षेत्र में तो यह ठीक है कि, मनुष्य अन्य मनुष्यों की दृष्टि में पतित हो जाने पर अपने से घृणा करने लगता है। परन्तु स्वप्न के क्षेत्र में यह एक आलंकारिक वर्णन है।

(५) दुष्ट स्वप्नको त्रिलोकीसे बाहिर निकाल देना-

निर्द्विषन्तं दिवो निः पृथिव्या निरन्तरिक्षाद् भजाम। (अ. १६।७।६)

अर्थात् हम से द्वेष करनेवाले दुष्ट स्वप्न को द्युलोक, पृथिवीलोक तथा अन्तरिक्ष लोक से निकाल बाहिर करते हैं।

इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान द्युलोक आदि से तो दुष्वप्न्य का कोई सम्बन्ध ही नहीं। हां, पिण्ड में विद्यमान द्युलोक आदि से दुष्वप्न्य को दूर करने का वर्णन बहुत युक्तिसङ्गत है। स्वप्न की दृष्टि से पिण्ड में शरीर, मन व मस्तिष्क ये तीन लोक हो सकते हैं। इन तीनों में से दुष्वप्न्य को बाहिर निकालने का उपाय यह है कि, मस्तिष्क-शक्ति, मानसिक शक्ति व शारीरिक शक्ति इन तीनों को उत्तम तथा प्रबल बनाया जाये। इन तीनों में यदि कोई भी शक्ति क्षीण होगी, तो दुष्वप्न्य अपना प्रभाव जमा लेंगे। अतः दुष्वप्न्य को दूर करने के लिये तीनों का श्रेष्ठ व शक्तिशाली होना अत्यावश्यक है।

(६) दुष्वप्न्य-शोधन का मानसिक-चिकित्सालय-

अगले दो मन्त्रों में दुष्वप्न्य-शोधन के लिये मानसिक चिकित्सालय का वर्णन आता है। वह इस प्रकार है-

सुयामँश्चाक्षुष। (अ. १६।७।७)
इदमहममुष्यायणेऽमुष्याः पुत्रे दुष्वप्न्यं मृजे। (अ. १६।७।८)

अर्थात् उत्तम नियन्त्रण करनेवाले अथवा उत्तम मार्ग का अवलम्बन करनेवाले और उत्तम विवेक आदि दृष्टिवाले अध्यक्ष ! मैं असुक मां बाप के पुत्र में से दुष्वप्न्य को शोधता हूं।

उपर्युक्त मन्त्रों से कई बातों का स्पष्टीकरण होता है। एक तो दुष्वप्न्य का शोधन करनेवाला है, जो कि ' सुयामन् ' और ' चाक्षुष ' नाम से किसीको सम्बोधन करके शोधन के लिये आज्ञा प्राप्त कर रहा है। इस आज्ञा देनेवालेमें ' सुयामन् ' उत्तम नियन्त्रण और ' चाक्षुष ' सब को देखते रहना कि सब काम ठीक हो रहा है कि नहीं- आदि गुण इस बातको सिद्ध करते हैं कि, यह कोई मानसिक चिकित्सालय और परीक्षणशाला (Mental Hospital & Laboratary) है, जिस का 'सुयामन् और चाक्षुष ' गुणोंवाला व्यक्ति अध्यक्ष है। इस अध्यक्ष की आज्ञा से चिकित्सक दुष्वप्न्य को शोधता है। और वह चिकित्सक कहता यह है कि असुक मां बाप के पुत्र

में से मैं दुष्वप्न्य को शोधता हूँ। इस से पता यह चलता है कि, वेद बीमार का पूरा पता रजिस्टर पर लिखने का आदेश देता है। परन्तु प्रश्न होता है कि, मां बाप का ही पता क्यों लिखने का आदेश दिया है, स्थान आदि का क्यों नहीं? और फिर मां बाप दोनों का क्यों लिखना? क्या पिता का नाम लिखना ही पर्याप्त नहीं? इस पर हमारा निवेदन यह है कि, मां बाप दोनों का परिगणन किसी गम्भीर भाव का द्योतक है। और वह यह प्रतीत होता है कि, रोगी में किन गुण–अवगुणों के कारण यह दुष्वप्न्यरूपी रोग पैदा हुवा है, इसका निर्णय मां बाप को देखकर आसानी से किया जा सकता है। वंशक्रमानुगत कोई दोष तो नहीं– इत्यादि बातें मातापिता का ज्ञान प्राप्त करके निर्णीत हो सकती हैं। मातापिता का निर्देश किस रहस्य को प्रकट कर रहा है– इस पर विद्वान् लोग अभी और विचार करें।

(७) चिकित्सकद्वारा दुष्वप्न्यका विनाश—

अगले कुछ मन्त्रों में चिकित्सक द्वारा दुष्वप्न्य-विनाश का तरीका बताया गया है। मन्त्र इस प्रकार है–

यददोअदो अभ्यगच्छन् यद् दोषा यत्पूर्वां रात्रिम्। (अ. १६।७।९)

यज्जाग्रत् यत्सुप्तो यद् दिवा यन्नक्तम्। (अ १६।७।१०)

यदहरहरभिगच्छामि तस्मादेनमव दये। (अ १६।७।११)

अर्थात् जो अमुक अमुक समयों में आते हों, सायंकाल, पूर्व रात्रि, जागते हुए, सोते हुए, दिनमें रात्रिमें अर्थात् जिस घडी स्वप्न आते हों, उससे मैं इस व्यक्ति को हटाता हूँ।

इन उपर्युक्त मन्त्रों से यह भाव टपकता है कि, चिकित्सक रोगी पर रातदिन निगरानी रखकर यह देखता है कि, इसको दुष्ट स्वप्न का आक्रमण किस समय होता है। यह अच्छी तरह से देख भाल कर उस उस काल के अनुसार उपाय कर के वह दुष्वप्न्य का विनाश करता है।

(८) चिकित्सकद्वारा दुष्वप्न्य-विनाश के लिये रोगी को प्रेरणा—

आगे मन्त्रों में चिकित्सक रोगी को दुष्वप्न्य-विनाश के लिये प्रेरणा करता है। मन्त्र इस प्रकार है–

तं जहि तेन मन्दस्व तस्य पृष्टीरपि शृणीहि। (अ० १६।७।१२)

स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु। (अ० १६।७।१३)

अर्थात् हे मनुष्य! तू दुष्ट स्वप्न को मार, और इस के मरने से प्रसन्न हो, उसकी पसली तक तोड डाल। वह जीता न रहे, प्राण उसे छोड जाये।

इन मन्त्रों से स्वप्न लेनेवाले की मानसिक अवस्था का भी दिग्दर्शन होता है। स्वप्न लेने में मनुष्य को बडा आनन्द आता है। वह स्वप्न को छोडना नहीं चाहता, चाहे वह दुष्ट स्वप्न ही क्यों न हो! चिकित्सक रोगी को कहता है कि, तू स्वप्न को मार और मारने में प्रसन्न हो, उस पर से मोह छोड। चिकित्सक की प्रेरणा से भी यदि रोगी दुष्वप्न्य पर प्रहार भी करेगा, तो बहुत ही हलका करेगा। इसलिये वेदने कहा है कि, दुष्वप्न्य पर हलका प्रहार न हो, प्रहार ऐसा हो कि, उस की पसली तक टूट जाये। और फिर पसली टूटना ही पर्याप्त नहीं, अपितु वह जीता न रहे, मर जाये।

इस प्रकार दुष्वप्न्य के पूर्ण विनाश के लिये चिकित्सक रोगी को प्रेरणा देता है और दुष्वप्न्य का विनाश करके ही छोडता है।

५ दुष्ट स्वप्नों को पाशों से न छूटने देना

अथवा

दुष्वप्न्य लेनेवालों को भिन्न भिन्न सुधारकों के पाशों में बांधना। (अथर्व० १६ कां. ८ सू.)

विगत ७ वें सूक्त में हम यह देख चुके हैं कि, दुष्वप्न्य लेनेवाले को अभूति आदि साधनों द्वारा वेध कर सुधार के लिये चिकित्सक के पास छोड दिया गया है। अब हम ८ वें सूक्त में यह बताया गया है कि, दुष्वप्न्य से मुक्त होकर हम विजयी हो गये हैं। और हमें वे सब ऐश्वर्य प्राप्त हो गये हैं, जिन के होने से दुष्वप्न्य हमें अब अभिभूत नहीं कर सकता। इसी उपर्युक्त भाव को दूसरे रूप में हम इस प्रकार भी कह सकते हैं, कि दुष्वप्न्य तो एक मानसिक रोग है, इस को दूर करने के लिये दुष्वप्न्य लेनेवाले को पाश में बांधा गया है। और चिकित्सक यह कहता है कि, जब तक दुष्वप्न्य दूर न हो तब तक वह छूटने न पावे। इसलिये भिन्न भिन्न प्रकार के दुष्वप्न्यों को सुधारने वाले भिन्न भिन्न प्रकार के सुधारकों के पाशों का इस सूक्त

में वर्णन किया गया है। अब हम इस सूक्त की व्याख्या करते हैं।

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
(अ० १६।८।१)

अर्थात् विजय, विकास, ऋत अर्थात् सत्य नियमों का पालन, तेज, ब्रह्म, स्वर् (दिव्य प्रकाश व दिव्य आनन्द), यज्ञ, पशु, प्रजा तथा वीर पुरुष हमने प्राप्त किये हैं।

उपर्युक्त मन्त्र का भाव यह है कि, स्वप्नादि दोषों पर मनुष्यने विजय प्राप्त कर ली है। और दुःष्वप्न्यों को जिन जिन सुधारकों के पाशों में बांधा गया है, वहां से छूटने न देने के लिये वह दृढ संकल्प करता है और दुःष्वप्न्य को दूर रखनेवाली उपर्युक्त सब बातों का सदा ध्यान रखता है। वह मनुष्य इस भाषा में बोलता है कि, हमारी विजय हो गई है। हमारा नव विकास हुवा है। ऋत अर्थात् सत्य नियमों का पालन करना हमारा कर्तव्य हो गया है। इनके पालन करने से हमारे अन्दर तेज का प्रादुर्भाव हुआ है। और हम सदा ब्रह्म में विचरते हैं। अतः ब्रह्म का जो स्वरूप अर्थात् दिव्य प्रकाश व दिव्य आनन्द रूप है, उस में हम सदा निमग्न रहते हैं। और सब प्रकार के यज्ञ हम करते हैं, अत हमें पशु, प्रजा तथा वीर पुरुषों की प्राप्ति हो गई है। इन सब उपर्युक्त पदार्थों के आश्रय-स्थान होने से अब हमें दुःस्वप्न्यादि दोष पराभूत नहीं कर सकते। हमने उन को निकाल बाहिर फेंका है, या पाशों में जकड दिया है।

अतः अगले मन्त्र में कहा है कि–

तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। **(अ० १६।८।२)**

अर्थात् उपर्युक्त पदार्थों की प्राप्ति के अनन्तर हमारे अन्दर वह शक्ति आ गई है कि, अमुक मां बाप के पुत्र अमुक प्रकार के स्वप्न को हम बाहिर निकाल फेंकते हैं।

इस उपर्युक्त मन्त्र में " तस्मात् " इस बात की ओर निर्देश कर रहा है कि, प्रथम मन्त्र में वर्णित शक्तियों की प्राप्ति के अनन्तर हमारे वह सामर्थ्य पैदा हो जाती है कि, जिस से हम आसानी से दुःष्वप्न्यों को बाहिर निकाल फेंकते हैं। और दुःष्वप्न्य को ' आमुष्यायणम् ' अमुक पिता का पुत्र तथा " अमुष्याः पुत्रम् " अमुक माता का पुत्र कहने का भाव यह है कि, भिन्न भिन्न प्रकार के दुःष्वप्न्यों को भिन्न भिन्न प्रकार के साधनों से दूर किया जाना चाहिये।

आगे कुछ मंत्रों में दुःष्वप्न्य को ग्राही, अभूति, निर्भूति आदि के पाशों में बांधने का निर्देश मिलता है। परन्तु विचारणीय यह है कि, ग्राही आदि दुःष्वप्न्य की माताएँ हैं, ये दुःष्वप्न्य को किस प्रकार अपने पाशों में बांध सकती हैं? इसका उत्तर एक तो यह हो सकता है कि, जिस समय हम शक्तिहीन थे और अभूति, निर्भूति आदि से आक्रान्त थे, उस समय दुःष्वप्न्य शक्तिशाली था। और उस के हम शिकार हुए हुए थे। परन्तु इस ८ वें सूक्त में मनुष्य की उन्नत अवस्था का दिग्दर्शन कराया हुवा है। वह अब शक्तिशाली है और दुःष्वप्न्य शक्तिहीन है। इसलिये अभूति आदि का शिकार अब दुःष्वप्न्य बना हुवा है। दुःष्वप्न्य में शक्ति न होना व उस का शक्तिक्षीण होना ही अभूति आदि का शिकार होना है। इसी दृष्टिसे दुःष्वप्न्य को ग्राही अभूति आदि के पाश में बांधा गया है। दूसरा भाव यह है कि, जहां अभूति आदि दुःष्वप्न्य को पैदा करती हैं, वहां भद्र स्वप्न को भी पैदा करनेवाली होती हैं। इस-लिये भद्र स्वप्न को पैदा करके दुःष्वप्न्य को अभूति आदि के पाश में बांधा जा सकता है। अब हम मन्त्रार्थ दिखाते हैं।

' स ग्राह्याः पाशान्मा मोचि '।

अर्थात् वह दुःष्वप्न्य ग्राही के पाश से न छूटे।

ग्राही के पाश में दुःष्वप्न्य को बांधने का भाव यह है कि, जिस अवस्था में हमें ग्राही आदिने जकडा हुआ था, वही अवस्था दुःष्वप्न्य की हो जावे। उस को भी ग्राही जकड ले, और वह उस के पाश से छूटने न पावे। परन्तु प्रश्न हो सकता है कि, दुःष्वप्न्य के लिये ग्राही कौन है? इस का उत्तर इस प्रकार हो सकता है कि, जैसे चिन्ता, शोक, आदि मनुष्य के लिये ग्राही हैं, वैसे ही प्रसन्नता, उल्लास आदि स्वप्न के लिये ग्राही हो सकते हैं। अर्थात् मनुष्य की वह अवस्था जो कि, चिंता शोक आदि को पैदा करती है, उस के विपरीत अवस्था को पैदा करके

दिव्य भावों को पैदा करना दुष्वप्न्य के लिये ग्राही को पैदा करना है। अतः मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि, प्रसन्नता तथा दिव्य भाव आदि ग्राही के पाश से दुष्वप्न्य छूटने न पावे।

आगे कहा है कि-

स निर्ऋत्याः पाशान्मा मोचि ॥ ५ ॥

अर्थात् वह दुष्वप्न्य निर्ऋति के पाश से न छूटे।

निर्ऋति के पाश से न छूटने का भाव यह है कि, वह स्वप्न कष्ट, आपत्ति आदि से सदा घिरा रहे। अर्थात् हमारा यह प्रयत्न होना चाहिये कि, दुष्वप्न्य की सत्ता व वृद्धि के विनाश के लिये हम सदा उस के ऊपर प्रहार करते रहें, जिस से उस की सत्ता तक खतरे में पड जाये। दूसरा निर्ऋति का अर्थ पाप करने पर निर्ऋति के पाश में बांधने का भाव यह है कि, हम दुष्वप्न्य को पाप समझें। और उस के निवारण के लिये सदा प्रयत्न-शील रहें।

आगे कहा है कि-

सोऽभूत्याः पाशान्मा मोचि ॥ ६ ॥

अर्थात् वह दुष्वप्न्य अभूति के पाश से न छूटे।

इसका भाव यह है कि, वह दुष्वप्न्य जो कि अभूतिकी अवस्था में विद्यमान है, अर्थात् जिस स्वप्न का हमारे अन्दर अभाव है, वह सदा हम से दूर रहे, ऐसा प्रयत्न हमें करते रहना चाहिये। मनुष्य का इतना ही कर्तव्य नहीं कि, जो दुष्वप्न्य उस के अन्दर विद्यमान है, उसको ही विनष्ट करने का वह प्रयत्न करे। अपितु अब तक के जीवन में जिन दुष्वप्न्यों का वह शिकार न बना हो, किसी भी अवस्था में वे आक्रान्त न कर सके, ऐसा उसे हमेशा प्रयत्न करते रहना चाहिये। दुष्वप्न्य को अभूति के पाश में बांधने का यही तात्पर्य है।

आगे कहा है कि-

स निर्भूत्याः पाशान्मा मोचि ॥ ७ ॥

अर्थात् वह दुष्वप्न्य निर्भूति के पाश से न छूटे।

अब विचारणीय यह है कि, दुष्वप्न्य का निर्भूति के पाश से न छूटने का क्या भाव है? पूर्व मन्त्र में हम यह देख चुके हैं कि, दुष्वप्न्य को अभूति अर्थात् अभाव के पाश में बांधा गया है। अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को यह प्रयत्न करना चाहिये कि, जिन दुष्वप्न्यों ने अभी तक उस पर आक्रमण नहीं किया है, वे कभी भी उस पर आक्रमण न कर सकें। वे सदा अभावात्मक ही रहें। परन्तु यह सब प्रयत्न करते हुए भी मानवीय न्यूनताओं के कारण यह सम्भव है कि नये दुष्वप्न्य भी शक्तिशाली होकर उसपर आक्रमण कर देवें। अतः इस सम्भावना को दृष्टि में रखते हुए मन्त्र में यह निर्देश मिलता है कि जो दुष्वप्न्य मनुष्य पर आक्रमण कर चुके हैं, उन के ऐश्वर्य को सदा बाहिर निकालते रहना चाहिये।

आगे कहा है कि-

स पराभूत्याः पाशान्मा मोचि ॥ ८ ॥

अर्थात् वह दुष्वप्न्य पराभूति के पाश से न छूटे।

दुष्वप्न्य को पराभूति के पाश में बांधने का भाव यह है, कि हमें अपने अन्दर इतनी सामर्थ्य पैदा कर लेनी चाहिये कि, जब जब दुष्वप्न्य हम पर आक्रमण करे, सदा पराभूत होकर लौट जाये। यह मन्त्र यह बताता है कि, दुष्वप्न्यरूपी शत्रु को पराभूत करने के लिये हमें अपने अन्दर सदा शक्ति-सञ्चय करते रहना चाहिये।

आगे कहा कि-

स देवजामीनां पाशान्मा मोचि ॥ ९ ॥

अर्थात् वह स्वप्न देवजामियों के पाश से न छूटे।

देवजामी शब्द के अर्थ हम पहिले देख चुके हैं। जो बुरे स्वप्नों को पैदा करनेवाले हैं, वे देवजामी बुरे हैं और जो अच्छे स्वप्नों को पैदा करनेवाले हैं, वे अच्छे हैं। अच्छे स्वप्नों को पैदा करनेवाले देवजामियों द्वारा दुष्वप्न्यों को पाश में बांधा जा सकता है।

आगे कहा कि—

स बृहस्पतेः पाशान्मा मोचि ॥ १० ॥

अर्थात् वह दुष्वप्न्य बृहस्पति के पाश से न छूटे।

बृहस्पति के पाश में दुष्वप्न्यको बांधने का क्या अभिप्राय है? यह उसके स्वरूप व कार्य के निर्णय से स्पष्ट हो जावेगा। बृहस्पति का विवेचन करना तो यहां अप्रासंगिक-सी बात होगी। 'ऋभुदेवता' नामक पुस्तक में मैंने बृहस्पति के सम्बन्ध में कुछ संक्षिप्त विवेचन किया है, उसके आधार पर एक शब्द में यह कहा जा सकता है कि बृहस्पति वेदवाणी का स्वामी है। राष्ट्र में वह शिक्षा-विभाग का अधिकारी है। प्रजाओं में ज्ञान का प्रकाश करना उसका कार्य है। राष्ट्र का प्रत्येक बच्चा नव-विकास

तथा नया जन्म पानेके लिये इसके पास पहुंचता है। बच्चे की शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति करना इसका कार्य है। अतः अज्ञान तथा अविकास आदि के आधार पर जो दुष्वप्न्य मनुष्य को आ घेरते हैं, उनको मन्त्र में बृहस्पति के पाश में बांधने की प्रार्थना की गई है।

दूसरे यह मन्त्र मनुष्य की चार अवस्थाओं में ब्रह्मचर्य अवस्था के समय होनेवाले दुष्वप्न्यों को बृहस्पति द्वारा पाश में बांधने का निदर्शक है।

आगे मन्त्र में कहा कि—

स प्रजापतेः पाशान्मा मोचि ॥ ११ ॥

अर्थात् वह दुष्वप्न्य प्रजापति के पाश से न छूटे।

प्रजा सन्तति आदि के अभाव से मनुष्य में जो दुष्वप्न्य आदि दुर्विचार उठते हैं, वे प्रजापति परमात्मा के सब प्रकार की प्रजा के प्रदान करने से दूर हों। वह दुष्वप्न्य को प्रजापति के पाश में बांधने का तात्पर्य है। दूसरा राष्ट्र के क्षेत्र में इस का भाव यह है कि, राष्ट्र का प्रजापति अधिकारी राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के प्रजा, पशु, सन्तति आदि के अभाव को दूर करे। और सन्तति तथा पशु आदि के होने में सहायक होकर इन के अभाव से होनेवाले दुष्ट स्वप्नों को दूर करे। यह मन्त्र मनुष्य के गृहस्थाश्रम में सन्तति आदि के अभाव से होनेवाले दुष्वप्न्यों को प्रजापति के द्वारा पाश में बांधने का आदेश देता है।

आगे कहा है कि—

स ऋषीणां पाशान्मा मोचि ॥ १२ ॥

अर्थात् वह दुष्वप्न्य ऋषियों के पाश से न छूटे।

ऋषि सूक्ष्म तत्वों तथा गूढ रहस्यों के साक्षात्कर्ता हैं। वे सत्यासत्य का निर्णय अपनी दिव्य दृष्टि से कर सकते हैं। हमारे शरीर में भी पदार्थों के सत्य रूप का दर्शन करनेवाली ज्ञानेन्द्रियां भी ऋषि कहलाती हैं। ये भी सत्यासत्य दर्शन के द्वारा निर्णय करनेवाली हैं। अतएव मनुष्य को यह चाहिये कि, ऋषियों का सत्संग करके वास्तविकता का पता चलावे और अज्ञान तथा असत्यादि से होनेवाले दुष्वप्न्यों का निवारण करे।

आगे कहा कि—

स आर्षेयाणां पाशान्मा मोचि ॥ १३ ॥

अर्थात् वह दुष्वप्न्य आर्षेयों के पाश से न छूटे।

आर्षेय शब्द ऋषि-सन्तान के लिये आता है। आर्षेयके सम्बन्ध में शत. ४।३।४।१९ में कहा गया है कि, " यो वै ज्ञातो (ज्ञातकुलीनः) ऽनूचानः स ऋषिरार्षेयः " अर्थात् जिस का कुल ज्ञात है, ऐसा वेद-प्रवक्ता ऋषि आर्षेय कहलाता है। इसलिये इसको हम खानदानी ऋषि कह सकते हैं। भारतवर्ष में जो जमदग्नि, भरद्वाज, वसिष्ठ आदि ऋषिवंश प्रचलित हैं, उन्हीं में यह आर्षेय शब्द प्रयुक्त हो सकता है। और ऋषि शब्द सामान्य है। यह ऋषि पदवी को प्राप्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि सभी के लिये प्रयुक्त हो सकता है। तां. ब्रा में एक स्थल पर यह कहा भी है कि, " योऽनार्षेयो विद्वान् " (तां. २०।१५।१०) अर्थात् आर्ष कुलमें न होकर भी विद्वान् हो सकता है।

प्रसंगवश हमें यहां पर इस बात का भी ख्याल रखना चाहिये कि, ये जमदग्नि, भरद्वाज, वसिष्ठ आदि ऋषि-वंश प्रवाह-रूप से नित्य हैं और मानव-समाज का ही इन वंशों पर एकाधिपत्य नहीं है। अन्य क्षेत्रों में भी ये वंश चलते हैं, उदाहरणार्थ शरीरके क्षेत्र में देखा जा सकता है। शत. ३।६।१।१ में यज्ञरूपी नाटक द्वारा उदर की व्याख्या की गई है। वहां आता है, " **उदरमेवास्य सदः। तस्मात्सदसि भक्षयन्ति यद्धीदं किं चाश्नन्त्युदर एवेदं सर्वं प्रतितिष्ठत्यथ यदस्मिन्विश्वे देवा असीदंस्तस्मात् सदो नाम त उ एवास्मिन्नेते ब्राह्मणविश्वगोत्राः सीदन्त्यैन्द्रं देवतया।** " अर्थात् उदर सद है, क्योंकि उस में भक्षण करते हैं, जो कुछ खाया जाता है, वह सब उदर में ही आकर स्थित होता है, इसलिये सद नाम रक्खा गया है। इस सद में इंद्र देवता को प्रमुख मानकर सब गोत्रों के ब्राह्मण विराजमान होते हैं।

यहां यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये कि, जो सृष्टि में हो रहा है, उसी के आधार पर यज्ञ-रूपी नाटक में दिखाया जाता है। उदर में सब गोत्रों के ब्राह्मण विराजमान हैं। इसलिये बाह्य यज्ञ में भी सब गोत्रों के ब्राह्मण सद में बैठाये जाते हैं। कहने का भाव यह है कि, वंश व गोत्र आदि प्रवाह-रूप से नित्य हैं और मानवसमाज का ही इन पर एकाधिपत्य नहीं है। यदि शरीर में विद्यमान आर्षेय स्वस्थ हों और अपना कार्य ठीक ठीक कर रहे हों, तो शरीर की अव्यवस्था से होनेवाले दुष्वप्न्य न होंगे।

परन्तु वाह्य मानवसमाज के अन्दर विद्यमान आर्षेयों के पाश में दुष्वप्न्य को बांधने का भाव यह है कि, आर्षेय खानदानी ऋषि होता है। उस के वंश में दोषों को दूर करने के लिये आदि सृष्टि से क्या क्या नियमोपनियम चले आ रहे हैं ? इत्यादि बातों को जानकर और उन के बताये मार्ग पर चलकर मनुष्य आसानी से दुष्वप्न्यादि दोषों को दूर कर सकता है। परन्तु ऋषि शब्द से उस व्यक्ति का ग्रहण करना चाहिये, जो कि साधारण मानवी अवस्था से ऋषि पदवी को प्राप्त हुवा है। जीवन-संघर्ष के प्रत्येक पहलू को उसने अच्छी तरह देखा होता है, पग पग पर उत्थान व पतन के कारणों का उसने खूब अवलोकन किया होता है। वह यह अच्छी तरह जानता है कि, उन्नति की चरम सीमा पर पहुंचने के लिये मार्ग में क्या क्या कठिनाइयां व बाधाएँ आती हैं। अतः जीवन की उन्नति के शत्रु दुष्वप्न्यों को दूर करने के लिये ऐसा ऋषि अच्छा पथदर्शक (Guide) बन सकता है।

आगे आता है कि—

सोऽङ्गिरसां पाशान्मा मोचि ॥१४॥

अर्थात् वह दुष्ट स्वप्न अंगिराओं के पाश से न छूटे।

अब विचारणीय यह है कि, ये अंगिरस कौन हैं ? वेदों में अंगिरस अग्नि को कहा है। ऋ० १।३१।१ में आता है कि, " त्वमग्ने प्रथमोऽङ्गिरा " हे अग्नि ! तू प्रथम अर्थात् मुख्य अंगिरा है। अंगिरस शब्द का रहस्य ब्राह्मण ग्रन्थने इस प्रकार स्पष्ट किया है। गो. पू. १।७ में इस प्रकार आता है कि, " तं वा एतमङ्गरसं सन्तमङ्गिरा इत्याचक्षते " अर्थात् अंगों के रस को अंगिरा कहते हैं। इस अङ्गरस के सम्बन्ध में शत. १४।४।१।२१ में आता है कि—

सोऽयास्य आङ्गिरसः। अङ्गानां हि रसः प्राणो वा अंगानां रसः प्राणो हि वा अंगानां रसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अंगानां रसः ॥

अर्थात् अंगों का रस प्राण × है वास्तव में प्राण ही अंगो का रस है। क्योंकि यदि किसी अंग से प्राण निकल जायें, तो वह अंग सूख जाता है। अतः प्राणों को अंगिरस कहते हैं। इस का भाव यह हुआ है कि, मनुष्यको अंगों के रस अर्थात् अपनी प्राणशक्ति को खूब बढाना चाहिये, जिस से कि मन व शरीर स्वस्थ रहे और दुष्वप्न्य मनुष्यको आक्रांत न कर सके। प्राणशक्ति अग्नि में सब अंगरस हैं। उपर्युक्त मन्त्र में अग्नि को जो अंगिरा कहा गया है, उस का भाव यह है कि, शरीर के अवयवों में जो अग्नियां कार्य कर रहीं हैं, वे ठीक ठीक कार्य करती हों, तो शरीर व मन स्वस्थ रहे और दुष्वप्न्यादि दोष मनुष्य में न पैदा हों।

अंगिरा अपर रात्रि के सूर्य को भी कहते हैं। अपर रात्रि में ही मनुष्य को ज्यादः स्वप्न आया करते है। अतः अंगिरा सूर्य से यह प्रार्थना हो सकती है कि, वह हमारे दुष्वप्न्यों को पाश में बांध ले। अर्थात् अपर रात्रि में ही ब्रह्मवेला आती है। इस समय का वायु मंडल मनुष्यों के अंगों में प्राणों का संचार करनेवाला होता है। अतः दुष्वप्न्यों को दूर करने के लिये मनुष्यों को ब्रह्मवेला में उठ जाना चाहिये और भ्रमण आदि द्वारा अंगों में प्राणों का संचार करना चाहिये।

आगे आता है कि—

स आंगिरसानां पाशान्मा मोचि ॥ १५ ॥

अर्थात् वह दुष्वप्न्य अंगिरसों के पाश से न छूटे।

ऊपर हम देख चुके हैं कि अंगिरा अग्नि और प्राणशक्ति को कहते हैं। अतः अग्नि से उत्पन्न पदार्थों, आग्नेय पदार्थों व प्राणशक्तिसंपन्न पदार्थों को आंगिरस कहा जा सकता है। शारीरिक अङ्गों में प्राण व अग्नि को स्थिर रखने के लिये आवश्यक यह है कि, अग्नि से पकाये गये पदार्थों व आग्नेय पदार्थोंका सेवन करे।

अन्नादि पदार्थ अग्नि से परिपक्व किये जाने पर ही अंगों का रस बन सकते हैं। कच्चे पदार्थ शरीरके लिये हानिकर

× प्राणियों के शरीर में जो निर्माण व विनाश-प्रक्रिया चल रही है, उसे वैदिक भाषा में प्राण और अपान कहते हैं।

प्राण– निर्माण (Anabolism) ⎤ इस सम्बन्ध में विस्तार से फिर कभी
अपान– विनाश (Catabolism) ⎦ आप के सामने रखा जायेगा।

हैं। यदि हम कच्चे पदार्थ ही सेवन करने प्रारम्भ करें तो हमारे में कई रोग उत्पन्न हो जायेंगे और उदर विकृत हो जानेपर नाना भांति के दुःस्वप्नों के हम शिकार बन जायेंगे।

दूसरे आंगिरस अग्नि से उत्पन्न व्यक्तियों को भी कहते हैं। ऋ. १०।६२।५ में आता है कि-

विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः।
ते अंगिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे॥

अर्थात् विविध रूपोंवाले तथा गम्भीर कर्मवाले वे अंगिरस् ऋषि अंगिरा के पुत्र हैं और वे अग्नि से पैदा हुए हैं।

इन आंगिरस व्यक्तियों का सहवास करने से एक सामान्य मनुष्य में भी अग्नि प्रज्वलित हो जाती है, और वह दुःस्वप्न्यादि दोषों को भस्मसात् कर देती है। इसलिये दुःस्वप्नों को दूर रखनेके लिये मनुष्यको आंगिरस व्यक्तियों का सदा सहवास करना चाहिये।

आगे कहा है कि-

सोऽथर्वणां पाशान्मा मोचि। ॥ १६ ॥

अर्थात् वह दुःस्वप्न अथर्वाओं के पाश से न छूटे।

निरुक्त में अथर्वा की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है-

' अथर्वाणोऽथनवन्तः थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः ' ॥ (नि० ११।१८)

अर्थात् गत्यर्थक थर्व धातु से अचल, निश्चल अर्थ में अथर्वा शब्द निष्पन्न होता है। इस से यह स्पष्ट है कि, जो चञ्चलप्रकृति नहीं है, स्थिर-प्रकृति हैं, उन्हें अथर्वा कहते हैं। दुःस्वप्न चञ्चल-प्रकृति मनुष्यों को ही प्रायः आते हैं। स्थिर-प्रकृति मनुष्यों को दुःस्वप्न का न होना या कम होना बहुत सम्भव है। अथर्वा के सम्बन्ध में कहा है कि-

' मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् '
(अथर्व. १०।२।२६)

अर्थात् अथर्वा मूर्धा और हृदय को एक में सीनेवाला है। इस प्रकार अथर्वा मनुष्य वह है जो कि, मस्तिष्क व हृदय दोनोंको संतुलित रखता है, इनका परस्पर समन्वय रखता है। यदि मनुष्य मस्तिष्क व हृदय दोनोंका समन्वय करके कार्य करे तो उसे दुःस्वप्न आदि बुरे विचार आक्रान्त नहीं कर सकते। क्योंकि वह केवल हृदय के आवेग (Imotion) से प्रभावित नहीं होता और नाही मस्तिष्क की तर्क-वितर्क प्रक्रिया में ही लगा रहता है। दोनों में से नितान्त-रूप से किसी एक का ही अवलम्बन करने से मनुष्य दुःस्वप्न आदिके शिकार बनते हैं। अतः दुःस्वप्नों को दूर रखने के लिये मनुष्य को अथर्वा बनने का प्रयत्न करना चाहिये।

शत. ६।४।२।१ में प्राणों को भी अथर्वा कहा है। वहाँ इस प्रकार आता है-

' अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने
इति प्राणो वा अथर्वा '

अर्थात् हे अग्नि ! पहले तुझे प्राणने मथा। प्राणों को अथर्वा कहने का भाव यह है कि, जिस मनुष्य के प्राण जितने शक्तिशाली होते हैं, वह उतना ही स्थिर प्रकृति होता है। शारीरिक व मानसिक क्षीणताएँ प्राणोंकी क्षीणता के कारण ही होती हैं। अतः दुःस्वप्नों को दूर करनेवालों को चाहिये कि वे प्राणों को खूब शक्तिशाली बनावें।

अथर्वा अथर्ववेद के ज्ञाताको भी कहते हैं। अथर्ववेद का दूसरा नाम ब्रह्मवेद है। ब्रह्म परमात्मा और प्रकृति आदि की महिमा, महानता आदि का इस में वर्णन है। इसको जानकर मनुष्य स्वार्थरहित, उदारचित्त, तथा स्थिर-प्रकृति बनता है। और इस प्रकार दुःस्वप्नों का विनाश करता है।

आगे आता है कि-

स आथर्वणानां पाशान्मा मोचि। ॥ १९ ॥

अर्थात् वह दुःस्वप्न आथर्वणों के पाश से न छूटे।

आथर्वण अथर्वा के पुत्र कहला सकते हैं। अर्थात् जो वंश-परंपरा से ब्रह्मवेत्ता हों, या स्थिर-प्रकृति हों, उन्हें आथर्वण कहा जा सकता है। ये आथर्वण अपनी वंश-परम्परा के आधारपर स्थिर-प्रकृति की वह शक्ति अपने पास रखते हैं, जिससे वे मनुष्यों के दुःस्वप्नोंको आसानी से दूर कर सकते हैं। दूसरे शत. ६।४।२।३ में वाक् को अथर्वा का पुत्र कहा गया है। वहां आता है कि-

' पुत्र इँधे अथर्वण इति वाग्वै दध्यङ्ङाथर्वणः
स एनं तत् ऐन्द्र वृत्रहणं पुरन्दरमिति पाप्मा
वै वृत्रः पाप्महतं पुरन्दरमित्येतत् '

अर्थात् पाप्मा वृत्र हैं । इन वृत्रों का हनन करनेवाली आत्मिक अग्नि पुरन्दर है । यह आत्मिक अग्नि अथर्वा (ब्रह्मवेत्ता) के वाक् अर्थात् ज्ञान से प्रदीप्त की जाती है । ब्रह्मज्ञान से प्रदीप्त आत्मा को दुःस्वप्न आक्रान्त नहीं कर सकते ।

आगे मन्त्र में कहा कि–

स वनस्पतीनां पाशान्मा मोचि ॥ १८ ॥

अर्थात् वह दुःस्वप्न वनस्पतियों के पाश से न छूटे ।

हम पहले यह देख चुके हैं कि, सम्पत्ति के अभाव में मनुष्यों को नाना भांति के दुःस्वप्न आया करते हैं । परन्तु जिस के पास वनस्पति तथा अन्नका भण्डार खूब भरा पड़ा हो, उसकी वनस्पतियां आदि खूब फलती फूलती हों, उसे दुःस्वप्न नहीं आयेंगे । दुःस्वप्नों को वनस्पतियों के पाश में बांधने का यही भाव है ।

आगे कहा कि–

स वानस्पत्यानां पाशान्मा मोचि ॥ १९ ॥

अर्थात् वह दुःस्वप्न वानस्पत्यों के पाश से न छूटे ।

वानस्पत्य वनस्पतियों से उत्पन्न पदार्थों को कहते हैं । यह सम्भव है कि, एक मनुष्य के पास ओषधि, वनस्पति आदि धन, धान्य प्रभूत मात्रामें हो, परन्तु उनसे पदार्थों का निर्माण तथा उपयोग न जानता हो, तो केवल वनस्पति व ओषधी आदिके भण्डार उसे दुःस्वप्न से नहीं बचा सकते । जिस मनुष्य को गेहूँ से रोटी बनानी नहीं आती और जड़ी बूटियों से औषध निर्माण करना नहीं आता, वह उनसे सुख नहीं प्राप्त कर सकता । क्योंकि एक वनस्पति व ओषधी अपने पूर्वरूप में विषका प्रभाव रखती है, वही औषधरूप में परिणत होकर अमृत का प्रभाव दिखाती है । इसी प्रकार सभी वनस्पति व ओषधियों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है । अतः इनका निर्माण व उपयोग पता होनेपर मनुष्य अपनेको स्वस्थ रख सकता है और दुःस्वप्नों के आक्रमण से बच सकता है ।

आगे कहा है कि–

स ऋतूनां पाशान्मा मोचि । ॥ २० ॥

अर्थात् वह दुःस्वप्न ऋतुओं के पाश से न छूटे ।

अब विचारणीय यह है कि, ऋतु दुःस्वप्नों को अपने पाश में किस प्रकार बांध सकती है ? हम देखते हैं कि, वनस्पति आदि धनधान्य का कम व प्रभूत मात्रा में होना, नाना व्याधियों की उत्पत्ति व विनाश तथा मनुष्योंके अन्य सुख व दुःख ये सब ऋतुओंपर आश्रित हैं । वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा आदि ऋतुएँ ठीक समयपर तथा उचित मात्रा में हों तो धनधान्य प्रभूत मात्रा में होगा । और बीमारियों का भी विशेष प्रकोप न होगा । परन्तु इसके विपरीत ऋतुओं में अव्यवस्था हो जाये तो धनधान्य कम होगा और नाना व्याधियों की उत्पत्ति हो जायेगी । इस का परिणाम यह होगा कि– मनुष्य नाना भांतिके दुःस्वप्नों में फंस जायेंगे । अतः दुःस्वप्नादि दोषों के निवारण के लिये यह आवश्यक है कि, ऋतुओं का ज्ञान प्राप्त किया जाये । परन्तु यहां यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि, केवल ऋतुज्ञान ही पर्याप्त नहीं, अपितु आवश्यकतानुसार ऋतु–निर्माण भी मनुष्य समाज कर सकता हो । हमारे प्राचीन शास्त्रों में ऋतुओं पर नियन्त्रण करने का विधान मिलता है । उदाहरणार्थ– उचित मात्रा में वृष्टि करने, अतिवृष्टि व अनावृष्टि को रोकने का उपाय यज्ञ × द्वारा किया जाता होगा ।

और फिर ऋतुसन्धियों में फैलनेवाली बीमारियों को दूर करने के लिये बड़े बड़े भैषज्य यज्ञों का भी वर्णन मिलता है । गो. उ. १।१९ में कहा है कि, " **ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते** " अर्थात् ऋतुसन्धियों में व्याधियां उत्पन्न हो जाती हैं । इसी प्रकार और भी ब्राह्मणों में ऋतुसन्धि में व्याधि उत्पन्न होने का वर्णन मिलता है । कौ. ५।१ में कहा गया है कि, " **भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते** " अर्थात् भैषज्य–यज्ञ ऋतुसन्धियों में किये जाते हैं । कहने का भाव यह है कि, मनुष्य को यह पता होना चाहिये कि, ऋतुओं में बिमारियां कब फैलती हैं ? और उन्हें किस प्रकार नियंत्रण में करना चाहिये ? केवल इतना ही नहीं, प्राचीन शास्त्रकारोंने ऋतुओं का खूब गहराई तक विवेचन किया हुआ था । श. प. ब्रा. २।१।३ में आता है, " **वसन्तो ग्रीष्मो वर्षा ते देवा ऋतवः शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरो य एवापूर्यतेऽर्धमासः स देवो योऽपक्षीयते स पितरोऽहरेव देवा रात्रिः पितरः**

× **अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।**

पुनरहः पूर्वाह्णो देवा अपराह्णः पितरः । ”

अर्थात् वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा ये देव ऋतु कहलाती है और शरद्, हेमन्त और शिशिर ये पितर कहलाती हैं। देव ऋतुओं का आपूर्णता से सम्बन्ध है और पितर ऋतुओं का अपक्षय से। इसी प्रकार मास का आधा भाग (शुक्लपक्ष) देव हैं, और अवशिष्ट कृष्णपक्ष पितर हैं। इसी प्रकार दिन देव है और रात्रि पितर है। दिन में भी प्रथम आधा भाग देव है और अगला आधा भाग पितर है।

प्रश्न यह है कि, ऋतु आदियों को देव पितर कहने का क्या भाव है? देव और पितर ऋतुओं में हमें किस समय क्या करना चाहिये? इत्यादि बातों का हमें सूक्ष्म ज्ञान होना चाहिये। ऋतु-ज्ञान न होने पर मनुष्य कई दुःखों व आपत्तियों का शिकार बन सकता है और इस प्रकार दुष्वप्न्य से आक्रान्त हो सकता है। इसलिये दुष्वप्न्यादि दोषोंको दूर रखने के लिये ऋतुज्ञान होना आवश्यक है।

आगे मन्त्र में कहा कि–

स आर्तवानां पाशान्मा मोचि ॥२१॥

अर्थात् वह दुष्वप्न्य आर्तवों के पाश से न छूटे।

आर्तव ऋतुधर्मों व ऋतुओं के गुणों को कहते हैं। तां. २५।१८।४ के अपने भाष्य में सायणाचार्यने आर्तवों के सम्बन्ध में लिखा है कि, “ आर्तवाः शीतोष्णवर्षाभिमानिनः ” अर्थात् शीत, उष्ण और वर्षादि जो ऋतुओं के धर्म व गुण हैं, उन्हें आर्तव कहते हैं। मनुष्यको यह पता होना चाहिये कि, ऋतुओं में होनेवाले शीतोष्ण आदि का दैनिक जीवन में किस प्रकार उपयोग किया जा सकता है। शीत से लाभ व हानि क्या हैं? इसी प्रकार उष्णता व वर्षा से क्या लाभ व हानियाँ हैं? इन के लाभों को किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं और इनसे उत्पन्न रोगों से अपने आपको किस प्रकार बचा सकते हैं? इत्यादि बातों के ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य कष्टों व आपत्तियों से आसानी से बच सकता है। इस से पूर्व मन्त्र में तो ऋतु-ज्ञान व ऋतु-नियन्त्रण की मुख्यता थी। इस मंत्र में उन के गुणधर्मों से लाभ उठाने व दोषों से बचने का मुख्यतया वर्णन है।

आगे कहा कि–

स मासानां पाशान्मा मोचि ॥२२॥

अर्थात् वह दुष्वप्न्य मासों के पाश से न छूटे।

अब विचारणीय यह है कि, स्वप्न मासों के पाश में किस प्रकार बंध सकता है? ऊपर हम यह देख चुके हैं कि, ऋतु-ज्ञान व ऋतु-नियंत्रण से मनुष्य कई प्रकार के कष्टों से बचा रहता है। इसी प्रकार मासों के समुचित ज्ञानसे भी मनुष्य कई प्रकार की विपत्तियों से बचा रह सकता है। किन्तु यहाँ शंका तो यह होती है कि, ऋतु आजाने से मास के कहने की क्या आवश्यकता थी? क्योंकि ऋतुओं का निर्माण मासों से ही होता है। यही प्रश्न अर्धमास, अहोरात्र आदिके सम्बन्धमें भी किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में मेरे विचार ये हैं कि, संवत्सर तो एक काल है। इस में छोटे छोटे कालों की दृष्टिसे कई विभाग हो सकते हैं। परन्तु ऋतु-विभाग काल की दृष्टि से विभाग नहीं है। ऋतुओं के अपने शीत, उष्ण, वर्षा आदि गुणधर्म हैं, उन गुणधर्मों के आधार पर ऋतु-विभाग किया गया है। इसलिये ऋतुओं का वर्णन पृथक् होना ही चाहिये।

इसी प्रकार मास-विभाग, चन्द्रमा तथा चित्रादि नक्षत्रों के आधार पर होता है। किन किन नक्षत्रों में मनुष्य के क्या क्या कर्तव्य हैं, यह ब्राह्मणादि ग्रन्थों में बहुत स्पष्ट रूप से वर्णन आता है। श. प. ब्रा. ११।२।७ में संवत्सर आदि के सम्यक् ज्ञान का फल बताते हुए मास का इस प्रकार वर्णन किया है।

' मासा हवींषि । स यो ह वै मासा हवींषीति वेदांते हैवास्य मासानामिष्टं भवत्यथो यत्किञ्च मासेषु क्रियते सर्वं हैवास्य तद्वाप्तमवरुद्धमभिजितं भवति । (श. प. ११।२।७।३)

अर्थात् संवत्सर यज्ञ है। मास हवियां हैं, जो मासों का हविरूप समझ जाता है, वह मासों से जो इष्ट होता है, वह प्राप्त करता है और कुछ मासों में किया जाता है, वह सब करनेवाले को प्राप्त होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी मासों का वर्णन देखा जा सकता है।

उपर्युक्त प्रकरण का तात्पर्य यह है कि, मास में क्या क्या करना और क्या क्या न करना, इत्यादि बातों का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त हो जाने पर मनुष्य को इष्ट की प्राप्ति हो जाती है। और जो विपत्तियां आनी होती हैं, उन को वह रोक देता है और जो अवश्य आ ही जाती हैं, उन पर वह

विजय प्राप्त कर लेता है।

इसलिये दुष्वप्न्यादि दोषों को दूर करने के लिये मासों का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

इसी प्रकार मासों में भी और सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अर्ध मासों का वर्णन किया गया है। वह इस प्रकार है-

स अर्धमासानां पाशान्मा मोचि ॥२३॥

अर्थात् वह अर्धमासों के पाशों से न छूटे।

अर्धमासों में एक पूर्णमासी और दूसरी अमावस्या है। पूर्णमासी का सम्बन्ध देवसे और अमावस्या का पितर से। ब्राह्मणग्रन्थों में कई यज्ञ पूर्णमासी से सम्बन्ध रखते हैं और कई अमावस्या से। पूर्णमासी में यज्ञों का विधान प्राप्तव्य वस्तुओं को अधिक से अधिक मात्रा में प्राप्त करने का उपाय बतानेवाला है। और अमावास्याके यज्ञ अपक्षय अर्थात् विनाश से बचानेवाले हैं। इसी दृष्टि से मास के अन्त में हमें अपना पिछला गतिविधि का सारा हिसाब देखना चाहिये कि, हम कहांतक उन्नति कर सके। अमावस्या का अर्धमास अपक्षय करनेवाला है और पूर्णमासी का अर्धमास उन्नति करनेवाला है।

एक मास में अपक्षय और उन्नति दोनों होती हैं। इसलिये मास के अन्त में हमें अपना परीक्षा फल देख लेना चाहिये।

इसके द्वारा हमें अगले मास के अर्धमासों में किन किन बातों का ध्यान रखना चाहिये, यह पता चल सकता है।

आगे कहा कि-

सोऽहोरात्रयोः पाशान्मा मोचि ॥ २४ ॥

अर्थात् वह दुष्ट स्वप्न दिन और रात्रि के पाश से न छूटे।

विचारणीय यह है कि, दिन और रात्रि दुष्वप्न्य को अपने पाश में किस प्रकार बांध सकते हैं। दिन और रात्रि के पाश में दुष्वप्न्य को बांधने का भाव यह है कि, मनुष्य को अपनी दिनचर्या और रात्रिचर्या ठीक रखनी चाहिये। जिस मनुष्य की दिनचर्या तथा रात्रिचर्या आदि नियमित होगी, वह कभी दुष्वप्न्यादि दोषों से पीडित नहीं हो सकता। उदाहरण के तौर पर ब्राह्म मुहूर्त का समय परमात्मा का गुणगान करने का है। उस समय यदि कोई विषयभोग के राग आलापने लगे, तो यह समयोचित कार्य न होगा। इसी प्रकार भोजन के समय भोजन करना, रात्रि में देरतक जागरण करना इत्यादि दिनचर्या के कर्तव्यों की सूक्ष्मता को न समझते हुए जो भी आहार-व्यवहार आदि कार्य करते हैं, वे दुष्वप्न्य आदि से अपने को नहीं बचा सकते।

यह सम्भव है कि, मनुष्य ऋतु-अनुकूल-आहार व्यवहार करते हों और यह भी सम्भव है कि, मास व अर्धमास आदि का भी अपने आहार आदि में ख्याल रखते हों, परन्तु वे दिन और रात की दिनचर्या आदि की सूक्ष्मता को न समझें और इन से हानि उठावें। जैसा कि शत. २।१।३।१ में कहा है कि, "अहर्देव देवाः रात्रिः पितरः" अर्थात् दिन देव और रात्रि पितर। इस से स्पष्ट है कि, दिनमें देव-कार्य करने चाहियें और रात्रिमें पितर-कार्य। दिन और रात्रि का शरीर के ऊपर क्या क्या प्रभाव है, यह विचारणीय है।

परन्तु मन के ऊपर तो इनका प्रभाव स्पष्ट है। दिनकी अपेक्षा रात्रिको मनुष्यका मन ज्यादह पतन की ओर जाता है। और फिर रात्रिमें अन्धकारादि के कारण राक्षस, डाकू, चोर आदि का ज्यादह भय रहता है। अतः दिन और रात्रि में देव और पितर के आधार पर पृथक् पृथक् कर्तव्य हैं। दिन में ज्ञानप्राप्ति, परोपकारादि उत्तम कार्यों में अपने को लगाना चाहिये। तथा रात्रि में रक्षा आदि साधनोंद्वारा अपने विनाश से बचने का उपाय करना चाहिये। इस प्रकार जो मनुष्य अपनी दिनचर्या और रात्रिचर्या ठीक रखेगा वह दुष्वप्न्यादि दोषों से बचा रहेगा।

अगला मन्त्र है—

सोऽह्नोः संयतोः पाशान्मा मोचि। ॥ २५ ॥

अर्थात् वह दुष्वप्न्य मिले-हुए दो दिनों के पाश से न छूटे।

इस मन्त्र में मिले हुए दो दिनों का क्या भाव है? यह अभी विचारणीय है। शायद इस का भाव यह हो कि मनुष्य दुष्वप्न्य को जब दूर करने लगता है, तो वह शनैः शनैः दूर कर सकता है। पहले प्रयत्न करके वह पूरे एक दिन से दुष्वप्न्य को निकाल बाहिर करता है। परन्तु अगले दिन वह फिर दुष्वप्न्य का शिकार बन जाता है।

जो मनुष्य किसी दोष को दूर करने का प्रयत्न करते हैं, उन में प्रायः ऐसा ही होता है। परन्तु वेदमन्त्र द्वारा यह कहता है कि, दूसरे दिन भी दुष्वप्न न आने देवें। इस तरह से दिनों को जोडते चले जावें। दूसरा परिणाम यह होगा कि कुछ दिनों बाद दुष्वप्नरूपी दोष स्वयं दूर हो जावेगा। और हमें स्वयं आश्चर्य होगा कि, किस तरह से हम उस से अपने को मुक्त कर सके। यह उपर्युक्त भाव '**संयतोः**' शब्द से अच्छी प्रकार समझ में आ सकता हो। '**संयतः**' शब्द का एक अर्थ तो 'मिलना' ऐसा है और दूसरा अर्थ है अच्छी प्रकार नियन्त्रित। दूसरा भाव यह हुवा कि जो मिले हुए दो दिनोंको अच्छी प्रकार नियन्त्रित कर लेता हो, दुष्वप्न उस के पास नहीं आ सकता।

स द्यावापृथिव्योः पाशान्मा मोचि ॥२६॥

अर्थात् वह स्वप्न द्यावापृथिवी के पाश से न छूटे।

स्वप्न को द्युलोक व पृथिवीलोक के पाशमें बांधने का तात्पर्य यह हो कि, इन दोनों का ज्ञान प्राप्त करके इन से लाभ उठाया जाये। इन दोनों लोकों का परस्पर बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। वर्षा आदि सब ऋतुएँ द्युलोक के प्रभाव से होती हैं। तथा सब वनस्पति ओषधियां द्युलोक में स्थित सूर्य तथा चन्द्रमा आदि के सामर्थ्य से ही पैदा होती हैं। वेद में द्युलोक को हमारा पिता कहा गया है और पृथिवी को माता। और हम इन दोनों द्यावापृथिवी के पुत्र हैं। इसलिये पालन-पोषण करनेवाले इन द्यावापृथिवीरूपी पितरो का ज्ञान प्राप्त करके भी हम सुखी हो सकते हैं। वेदने भी यही कहा है।

ऋ० १।१५९।२ द्यावापृथिवीवाले सूक्तमें आता है कि—

उत मन्ये पितुरद्रुहो मनो मातुर्महि स्वतव-
स्तद्धवीमभिः। सुरेतसा पितरा भूम चक्र-
तुरुरु प्रजाया अमृतं वरीमभिः॥

अर्थात् मैं द्रोह-रहित हुआ हुआ पिता माता के मन को स्तुति योग्य गुणोंके कारण महान् तथा शक्तिशाली मानता हूँ। उत्तमवीर्यवाले ये द्यावापृथिवीरूपी जो पितर हैं, ये श्रेष्ठ उपायों से अपनी प्रजा के लिये अमृत-स्वरूप अन्न बहुतायत में पैदा करते हैं।

इस मन्त्र में द्यावापृथिवी को माता पिता कहा गया है और यह भी निर्देश किया गया है कि ये दोनों ही मनुष्यों का अन्नादिद्वारा पालन-पोषण करनेवाले हैं।

परन्तु इनके पितर बनाना मनुष्य के बहुत कुछ अपने अधीन भी है। सूर्य, चन्द्रमा तथा नक्षत्रादि आकाशीय पिंडों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर के हम उन से काम उठा सकते हैं। यथा, सूर्य तथा चन्द्रमादि आकाशीय पिण्डों का पृथिवी पर क्या प्रभाव होता है? ऋतुएँ कैसे परिवर्तित होती हैं? चन्द्रमा के कारण समुद्र में होनेवाले ज्वार भाटे आदि का क्या सिद्धांत है? इत्यादि बातों का ज्ञान हो तो आधिदैविक विपत्तियों से मनुष्य आसानीसे बच सकता है। इसी प्रकार पृथिवी के सम्बन्ध में भूगर्भ-विद्या, कृषि-विद्या आदि पृथिवी से सम्बन्ध रखनेवाली सब विद्याओं का उसे ज्ञान होना चाहिए। इस प्रकार द्यावापृथिवीसम्बन्धी सब बातों का ज्ञान होने पर मनुष्य दुष्वप्नों का शिकार होने से बच सकता है।

आगे कहा है कि—

स इंद्राग्न्योः पाशान्मा मोचि ॥२७॥

अर्थात् वह स्वप्न इंद्र और अग्नि के पाश से न छूटे।

इस स्थल पर इंद्र और अग्नि से तात्पर्य आत्मा व तदनुकूल मन में प्रज्वलित की हुई सांकल्पिक संकल्पाग्नि से है। यदि मनुष्यों में आत्मानुकूल अग्नि प्रज्वलित हो तो मनुष्य को दुष्वप्न कभी नहीं आ सकते। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि, इंद्र और अग्नि का सहचार किसी विशेष प्रयोजन के लिये है। और वह यह कि, मन में अग्नि तो किसी बुरे उद्देश्य के लिये भी प्रज्वलित की जा सकती है। परन्तु इन्द्राग्नी दोनों का सहचार इस बात को सिद्ध करता है कि, अग्नि आत्मा के अनुकूल प्रज्वलित होनी चाहिए।

दूसरा इस का अर्थ यह भी हो सकता है कि, इंद्र अर्थात् आत्मा खूब शक्तिशाली तथा ऐश्वर्यसम्पन्न हों और शरीर को नीरोग तथा साम्यावस्था में रखनेवाली उदराग्नि भी ठीक प्रज्वलित होती हो, तो उस मनुष्य को भी स्वप्नादि दोष नहीं सता सकते। क्योंकि आत्मशक्ति उस की प्रबल है और ऐश्वर्यसम्पन्न है, बुरी इच्छाएं तथा बुरे विचार उस में नहीं उठ सकते। उस में स्वप्नादि दोष हो ही नहीं सकते। दूसरे शरीर की विषमावस्था अर्थात्

रुग्णावस्था के कारण जो स्वप्नादि दोष होते हैं, वे इसलिए नहीं हो सकते; क्योंकि उसकी उदराग्नि ठीक प्रज्वलित रहती है। जो मनुष्य रात को बहुत भारी भोजन कर ले और उस पर उस की उदराग्नि भी ठीक प्रज्वलित न हो तो भोजन के परिपक्व न होने उसे रात्रि को स्वप्न आएंगे और जिसकी उदराग्नि सदा बिगडी रहती है, उस का तो कहना ही क्या? इन्द्र आत्म-शक्ति अर्थात् श्रेष्ठ विचारों का द्योतक है और अग्नि उदराग्नि का। इस से यह भी पता चलता है कि, जिस के विचार ठीक न हों, उस की उदराग्नि भी ठीक नहीं रहती।

तीसरे राष्ट्र-पक्ष में इन्द्र क्षत्र-शक्ति का प्रतिनिधि है और अग्नि ब्राह्मण-शक्ति का प्रतिनिधि है। जिस राष्ट्र में यह दोनों शक्तियां परस्पर एक दूसरे का सहयोग करती हुई अपना अपना कार्य सुचारु रूप से करती हैं, वहाँ राष्ट्र सब प्रकार से सुखी व उन्नत होता है। ऐसे राष्ट्र की प्रजा में दुस्वप्न का होना असम्भव है।

आगे कहा है कि-

स मित्रावरुणयोः पाशान्मा मोचि ॥ २६ ॥

अर्थात् वह स्वप्न मित्र और वरुण के पाश से न छूटे।

मित्र-वरुण दोनों का एक अर्थ तो प्राण और अपान है। तां. ६।१०।५।७, तै. ५।३।६।९ में मित्रावरुण के सम्बन्ध में लिखा है कि, "प्राणापानौ मित्रावरुणौ" अर्थात् प्राण और अपान मित्रावरुण हैं। इस से भाव टपकता है कि, मनुष्य के प्राण और अपान ठीक कार्य करते हैं, उसे स्वप्नादि दोष नहीं सता सकते। दूसरे इन दोनों के कार्य से भी हम इस भाव को स्पष्ट कर सकते हैं। वह यह कि प्राण का कार्य है शक्ति-संचय करना और अपान का कार्य है, मल अर्थात् दोषादियों को दूर करना। जिस मनुष्य के शरीर में सदा सुचारु रूप से शक्ति-संचय होता रहता है और मलादि दोष ठीक ठीक बाहर हो जाते हैं, वह सदा स्वस्थ रहता है। उसे स्वप्नादि दोष नहीं सता सकते। इसी प्रकार मानसिक क्षेत्र में भी यही नियम कार्य करता है अर्थात् जो मनुष्य अच्छी अच्छी बातों का तो संग्रह करता रहता है और दोषों को पकड पकड कर बाहर निकाल देता है, उस का मन सदा स्वस्थ रहता है। उसे कभी भी बुरे विचार तथा स्वप्नादि दोष नहीं सता सकते।

दूसरे जिस मनुष्यमें श्रेष्ठ पुरुषों व अच्छी बातों के प्रति मैत्रीभाव और दुष्ट-मनुष्यों तथा बुरी बातों के प्रति वरुण-भाव अर्थात् हिंसक भाव होता है, वह भी दुस्वप्नों का शिकार नहीं बन सकता।

यही उपर्युक्त बातें यदि राष्ट्र में हों, तो उस राष्ट्र की प्रजा में भी दुस्वप्न नहीं हो सकते। फिर कहा है कि-

स राज्ञो वरुणस्य पाशान्मा मोचि ॥ २७ ॥

अर्थात् वह स्वप्न राजा वरुण के पाश से न छूटे।

एक तो राजा वरुण का अर्थ परमात्मा है। जैसा कि, अथर्व. ४।१६।४२ में कहा है कि-

द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते तद्राजा वेद
वरुणस्तृतीयः ॥

अर्थात् जो दो आपसमें एकान्तमें बैठकर सलाह कर रहे होते हैं, उनमें तीसरा राजा वरुण भी सुन रहा होता है।

इस प्रकार राजा वरुण का एक अर्थ परमात्मा भी है। स्वप्न को पाश में बान्धनेवाला परमात्मा का वरुणरूप ही हो सकता है। इसलिये प्रत्येक को परमात्मा के उग्र स्वरूप का सदा स्मरण रखना चाहिये। जो मनुष्य परमात्मा के उग्र वरुण रूप को जानता है, वह कभी दुस्वप्नादि दोषोंमें फंस नहीं सकता। उसे पता रहता है कि, परमात्मा वरुणरूप में मुझे अवश्य दण्ड देगा। इसलिये कहा है कि, वह स्वप्न वरुण के पाश से न छूटे।

दूसरे राजा वरुण सामान्य राष्ट्र का अधिपति भी हो सकता है। उस का वरुण-विभाग दुष्टों को पकडने तथा उन्हें दण्ड देने का कार्य करता है। शत. १२।७।२।१७ में कहा है कि—

वरुणो वा एतं गृह्णाति यः पाप्मना
गृहीतो भवति ॥

अर्थात् वरुण उसे पकड लेता है, जो पापसे ग्रस्त होता है। राष्ट्र में राजा वरुण का कार्य यह है कि, वह दुष्टों पापियों को अपने पाश में बान्ध ले। जब प्रजा को यह ज्ञान होता कि राष्ट्र का अधिपति राजा वरुण पाप करने पर पकड लेता है, तो प्रजा पापकी ओर मुंह भी नहीं उठाएगी। इस प्रकार वह स्वप्नादि दोषोंसे बच सकती है।

उपर हमने स्वप्नसम्बन्धी आठवां सूक्त देखा। अब हम नौवें सूक्त पर भी विचार करते हैं। जब हमने स्वप्न-रूपी शत्रु पर विजय प्राप्त कर ली, तब विजयोत्तर हमारी क्या दशा होनी चाहिये, यह नौवें सूक्तमें संक्षेपमें दर्शाया गया है। अब हम क्रमशः नौवें सूक्त पर भी विचार करते हैं। प्रथम मन्त्र इस प्रकार है–

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः। (अ. १६।९।१)

अर्थात् हमारी स्वप्नरूपी शत्रु पर विजय हो गई है। हमने विकास प्राप्त किया है। सम्पूर्ण जितनी अराती सेनाएँ थीं, उन को हमने रोक दिया है।

यहां 'उद्भिन्नम्' का अर्थ है कि अज्ञानरूपी अन्धकार या स्वप्नादि दोषों के आवरण को फोडकर हम ऊपर उठ आए हैं और पाप व स्वप्नादि दोषों की जितनी अराती सेनाएँ है, उन को हमने बाहिर रोक दिया है। आगे कहा है कि–

'तदग्निराह तदु सोम आह पूषा मा धात् सुकृतस्य लोके॥　(अ. १६।९।१२)

अर्थात् अग्निने मुझे यह कहा है और सोमने मुझे यह कहा है और पूषाने मुझे सुकृत के लोक में उठा कर रख दिया है।

उपर्युक्त मन्त्र के भाव को समझने के लिये हमें शत-पथ ब्राह्मण के इस वाक्य पर ध्यान देना चाहिये। वह इस प्रकार है—

'द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। आर्द्रं चैव शुष्कं च, यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत्सौम्यम्॥'

अर्थात् दुनियामें दोही चीजे हैं। एक आर्द्र, दूसरी शुष्क जो शुष्क है वह आग्नेय है और जो आर्द्र है वह सौम्य। अर्थात् यह संसार दो प्रकारके पदार्थोंसे निर्मित हुआ है। एक गीला और दूसरा सूखा। सूखा आग्नेय तत्त्व है और गीला सौम्य तत्त्व है। इस का तात्पर्य यह हुआ कि, प्रत्येक पदार्थ अग्नि और सोम–तत्त्वोंसे निर्मित हुआ है। जहाँ यह तत्त्व जितने जितने परिमाण में होंगे, वह पदार्थ वैसे वैसे ही गुणोंवाला होगा। जिस में अग्नि-तत्त्व प्रधान होगा, वह आग्नेय कहलाएगा और जिस में सोम तत्त्व प्रधान होगा, वह सौम्य कहलाएगा। इसी प्रकार शरीर दिमाग आदि में भी दोनों तत्त्व काम कर रहे हैं। जिस में अग्नि-तत्त्व अधिक प्रधान होता है, वह आग्नेय पुरुष कहलाता है और जिसमें सोम–तत्त्व प्रधान होता है, वह सौम्य कह-लाता है।

वेद इस मन्त्र के आधार पर कहता है कि, दोनों आग्नेय और सौम्य तत्त्वों को इस परिमाण में करो कि जिस से स्वप्नरूपी शत्रु विनष्ट हो जावे। जिस मनुष्य के दिमाग में आग्नेय तत्त्व आवश्यकतासे अधिक परिमाण में हैं– और सोम तत्त्व इतना कम है कि वह कर्तव्या-कर्तव्य का निश्चय ठीक नहीं कर सकता, उसे अपना आग्नेय तत्त्व कुछ कम कर के सौम्य तत्त्वको बढाना चाहिए। और जिस में सोम–तत्त्व आवश्यकता से अधिक प्रबल है और वह भी कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय नहीं कर सकता, दोषरूपी शत्रु का भी मुकाबला नहीं कर सकता, उसे अपने में सौम्यतत्त्व कम करके आग्नेय तत्त्व बढाना चाहिये। इस प्रकार जब यह दोनों तत्त्व प्रत्येक व्यक्ति में अपने स्वभाव के अनुसार ठीक ठीक परिमाण में होंगे, तभी जाकर वह व्यक्ति स्वप्नादि दोषों को दूर करने में समर्थ होगा।

इसी प्रकार दुनियांमें कोई पदार्थ जिस गुण (Quality) का भी बनाना हो, उस में उसी परिमाणमें आग्नेय तथा सौम्य तत्त्वों का समावेश करना चाहिये।

आगे कहा है कि—

पूषा मा धात्सुकृतस्य लोके॥

अर्थात् पूषाने मुझे सुकृत् के लोक में लाकर रक्खा है।

सुकृत् के लोकका अर्थ है उत्तम कर्म करनेवालोंका लोक। लोक शब्द यहां पर समाज (Society) अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इस का भाव यह हुआ कि, पूषाने मुझे उत्तम कर्म करनेवालों की समाज में ला रखा है। परन्तु पूषा कौन है, यह भी विचारणीय है। पूषा शब्द ही स्वयं अपने अर्थ को खोल रहा है। पूषा पुष्टि का प्रतिनिधि है। शत. २।७।२।१ में आता है 'पुष्टिर्वै पूषा' अर्थात् पूषा पुष्टि को कहते हैं। जब स्वप्नादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली, तब हम आत्मिक मानसिक व शारीरिक क्षेत्रमें स्वस्थ हो गए। तब स्वभावतः हमारे में पुष्टि अर्थात् पूषा की प्रधानता होगी।　(क्रमशः)

वेदका रहस्य।

[अध्याय १७]

मानव पितर।

[लेखक- श्रीअरविंद; अनुवादक- स्वामी अभयदेवजी]

अंगिरस ऋषियों की ये विशेषताएं प्रथम दृष्टि में यह दर्शाती प्रतीत होती हैं कि, अंगिरस वैदिक संप्रदायमें अर्ध-देवताओं की एक श्रेणी है, अपने बाह्य रूप में वे प्रकाश और वाणी और ज्वाला के सजीव शरीरधारी रूप हैं या यह कहना चाहिये कि, उन के व्यक्तित्व हैं, पर अपने आन्तरिक रूप में वे सत्य की शक्तियां हैं, जो कि युद्धों में देवताओं की सहायता करती हैं। पर दिव्य द्रष्टा के तौर पर भी, द्यौके पुत्र और देव के वीर योद्धा के तौरपर भी, ये ऋषि अभीप्सायुक्त मानवता को सूचित करते हैं। यह सच है कि, मौलिक रूप में वे देवों के पुत्र हैं, 'देव-पुत्राः' अग्नि के कुमार हैं, अनेक रूपों में पैदा हुए बृहस्पतिके रूप हैं और सत्य के लोकके प्रति अपने आरोहण में उन का इस प्रकार वर्णन किया गया है कि, वे फिर से उस स्थानपर आरोहण कर पहुंच जाते हैं, जहाँ से कि वे आये थे; पर अपने इन स्वरूपों तक में वे बड़ी अच्छी प्रकार उस मानवीय आत्मा के द्योतक हो सकते हैं, जो स्वयं उस लोक से अवरोहण कर के नीचे आया है और अब पुनः उसे आरोहण करके वहाँ पहुंचना है, क्योंकि अपने उद्गम में वह एक मानसिक सत्ता है, अमरता का पुत्र है (अमृतस्य पुत्रः), द्यौ का कुमार है, जो द्यौ में पैदा हुआ है और मर्त्य केवल उन शरीरों में है, जिन को वह धारण करता है। और यज्ञ में अंगिरस ऋषियों का भाग मानवीय भाग है, शब्द को पाना, देवों के प्रति आत्मा की सूक्ति का गायन करना, प्रार्थना के द्वारा, पवित्र भोजन तथा सोमरसद्वारा, दिव्य शक्तियों को स्थिर करना और बढ़ाना, अपनी सहायता से दिव्य उषा को जन्म देना, पूर्ण रूपसे जगमगाते हुए सत्य के प्रकाशमय रूपों को जीतना और आरोहण करके इस के रहस्य तक, सुदूर-वर्ती तथा उच्च स्थानपर स्थित घर तक पहुंचना।

यज्ञ के इस कार्य में वे द्विविध रूपमें प्रकट होते हैं, + एक तो दिव्य अंगिरस, 'ऋषयो दिव्याः,' जो कि देवों के समान किन्हीं अध्यात्मशक्तियों तथा क्रियाओं के प्रतीक हैं और उन का अधिष्ठातृत्व करते हैं, और दूसरे मानव पितर, 'पितरो मनुष्याः,' जो कि, ऋभुओं के समान मानवप्राणियों के रूपमें भी वर्णित किये गये हैं या कमसे कम इस रूपमें कि वे मानवीय शक्तियां हैं, जिन्होंने अपने कार्य से अमरता को जीता है, लक्ष्य को प्राप्त किया है और उन का इसलिये आवाहन किया गया है कि, वे उसी दिव्यप्राप्ति में बाद में आनेवाली मर्त्य जाति की सहायता करें। दशम मण्डल के बाद के यम-सूक्तों में तो ऋभुओं और अथर्वणों के साथ अंगिरसों को भी 'बर्हिषद' कहा गया है और यह कहा गया है कि, वे यज्ञ में अपने निजी विशेष भाग को ग्रहण करते हैं, पर इसके अतिरिक्त अवशिष्ट वेदमें भी यह पाया जाता है कि, एक अपेक्षाकृत कम निश्चित पर अधिक व्यापक और अधिक अभिप्रायपूर्ण अलंकार में उन का आवाहन किया गया है। यह महान् मानवीय यात्रा है, जिस के लिये कि उन का आवाहन किया गया है, क्योंकि यह मृत्यु से अमरता की ओर, अनृत से सत्य की ओर मानवीय यात्रा ही है, जिसे कि इन पूर्व पुरुषाओंने पूर्ण किया है और अपने वंशजों के लिये मार्ग खोल दिया है।

उन के कार्य के इस स्वरूप को हम ७-४२ तथा ७-५२ में पाते हैं। वसिष्ठ के इन दो सूक्तों में से प्रथम ठीक

+ यहां यह ध्यान देनेयोग्य है कि, पुराण विशेष और से पितरों की दो श्रेणियों के बीच में भेद करते हैं, एक तो दिव्य पितर हैं जो कि, देवताओं की एक श्रेणी है, दूसरे हैं मानव पूर्वज, इन दोनों के ही लिये पिण्डदान किया जाता है। पुराणोंने स्पष्ट ही इस विषय में केवल प्रारंभिक वैदिक परंपरा को ही जारी रखा है।

इसी महान् यात्रा के लिये, 'अध्वरयज्ञ ॐ' के लिये, देवों का आवाहन किया गया है। 'अध्वर यज्ञ' वह यज्ञ है जो कि, दिव्यताओं के घर की ओर यात्रा करता है या जो उस घर तक पहुंचने के लिये एक यात्रारूप है और साथ ही जो एक युद्ध है; क्योंकि यह वर्णन आता है कि, 'हे अग्ने! तेरे लिये यात्रामार्ग सुगम है और सनातन काल से वह तुझे ज्ञात है। सोम-सवन में तू अपनी उन रोहित (या शीघ्रगामी) घोडियों को जोत जिनपर वीर सवार हुआ हुआ है। स्थित हुआ हुआ मैं दिव्य जन्मोंका आवाहन करता हूं (ऋचा २ ×)।' यह मार्ग कौनसा है? यह वह मार्ग है जो कि, देवताओं के घर तथा हमारी पार्थिव मर्त्यता के बीच में है, जिस मार्ग से देवता अन्तरिक्ष के, प्राण-प्रदेशों के, बीच में से होते हुए नीचे पार्थिव यज्ञ में उतर कर आते हैं और जिस मार्ग से यज्ञ तथा यज्ञद्वारा मनुष्य ऊपर आरोहण करता हुआ देवताओं के घर तक पहुंचता है। 'अग्नि' अपनी घोडियों को अर्थात् जिस दिव्य बल का द्योतक है, उस की बहुरूप शक्तियों या विविध रंगवाली ज्वालाओं को जोतता है, और वे घोडियां 'वीर' को अर्थात् हमारे अन्दर की उस संग्रामकारिणी शक्ति को वहन करती हैं जो कि यात्रा के कार्य को सफलतापूर्वक चलाती हैं। और दिव्य जन्म स्वतः देव हैं तथा साथ ही मनुष्य में प्रकट होनेवाली दिव्य जीवन की वे अभिव्यक्तियां हैं जो कि वेद में देवत्व करके समझी जाती हैं। यहां पर अभिप्राय यही है, यह बात चौथी ऋचा से स्पष्ट हो जाती है, 'जब सुख में निवास करनेवाला अतिथि उस वीर के जो कि, (आनन्द में) समृद्ध है, द्वारों से युक्त घर में चेतनापूर्ण ज्ञानवाला हो जाता है, जब अग्नि पूर्णतया संतुष्ट हो जाता है और घर में स्थिरतापूर्वक निवास करने लगता है, तब वह उस प्राणी के लिये अभीप्सित वर प्रदान करता है, जो कि यात्रा करनेवाला है, ❀' या यह अर्थ हो सकता है कि, उसकी यात्रा के लिये (इयत्यै)।

इसलिये यह सूक्त परम कल्याण की तरफ यात्रा करनेके लिये, दिव्य जन्म के लिये, आनन्द के लिये अग्नि का एक आवाहन है। और इस की प्रारम्भिक ऋचा उस यात्रा के लिये जो आवश्यक शर्तें हैं, उन की प्रार्थना है, अर्थात् इस में उन बातों का उल्लेख है, जिन से कि, यह यात्रारूप यज्ञ, 'अध्वरस्य पेशः' बनता है और इन में सर्वप्रथम वस्तु आती है, अंगिरसों की अग्रगामी गति; "आगे आगे अंगिरस यात्रा करें, जो अंगिरस 'ब्रह्म' (शब्द) के पुरोहित हैं, आकाश की (या आकाशीय वस्तु बादल या बिजली की) गर्जना आगे आगे जावे, प्रीणयित्री गौएँ आगे आगे चलें जो कि, अपने जलों को बखेरती हैं और दो पत्थर, सिल-बट्टे, (अपने कार्य में) यात्रामय यज्ञ के रूप को बनाने में- लगाये जावें।"

प्र ब्रह्माणो अंगिरसो नक्षन्त, प्र क्रन्दनुर्नभन्यस्य वेतु। प्र धेनव उदप्रुतो नवन्त, युज्यातामद्री अध्वरस्य पेशः॥

प्रथम दिव्य शब्द से युक्त अंगिरस, दूसरे आकाश की गर्जना जो कि, ज्योतिष्मान् लोक 'स्वः' की तथा

ॐ सायण 'अध्वर यज्ञ' का अर्थ करता है, 'अहिंसित यज्ञ'; पर अहिंसित यह कभी भी यज्ञ के लिये पर्यायरूप में प्रयुक्त हुआ नहीं हो सकता। 'अध्वर' है 'यात्रा,' 'गमन,' इस का संबन्ध 'अध्वन्' से है, जिस का अर्थ मार्ग या यात्रा है, यह 'अध्' धातुसे बना है, जो धातु इस समय लुप्त हो चुकी है, जिस का अर्थ था चलना, फैलाना चौडा होना, घना होना इत्यादि। 'अध्वन्' और 'अध्वर' इन दो शब्दों का संबन्ध हमें इस से पता चल जाता है कि, 'अध्व' का अर्थ वायु या आकाश है और 'अध्वर' भी इस अर्थ में आता है। ऐसे संदर्भ वेद में अनेकों हैं, जिन में कि 'अध्वर' या 'अध्वर यज्ञ' का सम्बन्ध यात्रा करने, पर्यटन करने, मार्ग पर अग्रसर होने के विचार के साथ है।

× सुगस्ते अग्ने सनवित्तो अध्वा युक्ष्वा सुते हरितो रोहितश्च।
ये वा सद्मन्नरुषा वीरवाहो हुवे देवानां जनिमानि सत्तः॥

❀ यदा वीरस्य रेवतो दुरोणे स्योनशीरतिथिराचिकेतत्।
सुप्रीतो अग्निः सुधितो दम आ स विशे दाति वार्यमियत्यै॥ (ऋ. ७.४२।२,४)

शब्द में से वज्रनिर्घोष कर के निकलती हुई इस की बिजलियों की आवाज है, तीसरे दिव्य जल या सात नदियां जो कि, प्रवाहित होने के लिये ' स्वः ' के अधिपति इन्द्र की उस आकाशीय विद्युत द्वारा मुक्त की गई हैं और चौथे दिव्य जलों के निकलकर प्रवाहित होने के साथ साथ अमरता को देनेवाले सोम का निचोड़ा जाना ये चीजें हैं, जो कि, ' अध्वर यज्ञ ' के रूप, ' पेशः ' को निर्मित करती हैं। और इस का सामान्य स्वरूप है, अग्रगामी गति, दिव्य लक्ष्य की ओर सब की प्रगति, जैसा कि, यहां सूचित किया गया है, गतिवाची तीन क्रियापद ' नक्षन्त, ' ' येतु ' ' नवन्त, ' द्वारा और उन के साथ उन के अर्थ पर बल देने के लिये अग्रवाची ' प्र ' उपसर्ग लगा कर, जो कि मन्त्र के प्रत्येक वाक्यांश को प्रारम्भ करता और उसे स्वर प्रदान करता है।

परन्तु ५२ वां सूक्त और भी अधिक अर्थपूर्ण तथा निर्देशक है। प्रथम ऋचा इस प्रकार है, " हे असीम माता अदिति के पुत्रो (आदित्यासः), हम असीम बन जायें, (अदितयः स्याम), ' वसु ' दिव्यता तथा मर्त्यता में हमारी रक्षा करें, (देवत्रा मर्त्यत्रा), हे मित्र और वरुण ! अधिगत करनेवाले हम तुम्हें अधिगत कर लें, ' हे द्यौ और पृथिवी ! होनेवाले हम ' तुम ' हो जायें, "

सनेम मित्रावरुणा सनन्तो, भवेम द्यावा-
पृथिवी भवन्तः।

स्पष्ट ही अभिप्राय यह है कि, हमें असीम को या अदिति के पुत्रों को, देवत्वों को, अधिगत करना है और स्वयं असीम अदितिके पुत्र, 'अदितयः, आदित्यासः, ' हो जाना है। मित्र और वरुण के लिये यह हमें स्मरण रखना चाहिये कि, ये प्रकाश तथा सत्य के अधिपति ' सूर्य सविता ' की शक्तियां हैं। और तीसरी ऋचा इस प्रकार है, " अंगिरस जो कि, लक्ष्य पर पहुंचने के लिये शीघ्रता करते हैं, अपनी यात्रा करते हुए, देव सविता के सुख की तरफ गति करें और उस (सुख) को हमारा महान् यज्ञिय पिता और सब देवता एक मनवाले होकर हृदय में स्वीकार करें, "

तुरण्यवोऽङ्गिरसो नक्षन्त रत्नं देवस्य सवि-
तुरियानाः। पिता च तन्नो महान् यजत्रो विश्वे
देवाः समनसो जुषन्त ॥ (ऋ. ७।५२।३)

इसलिये यह बिलकुल स्पष्ट है कि, अंगिरस और देवता के उस प्रकाश तथा सत्य के यात्री हैं, जिस में से वे जगमगानेवाली गौएं पैदा हुई हैं, जिन को कि अंगिरस पणियों से छीन कर लाते हैं, और उस सुख के यात्री हैं जो, जैसा कि हम सर्वत्र देखते हैं, उस प्रकाश तथा सत्य पर आश्रित है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि, यह यात्रा देवत्व में, असीम सत्ता में, परिणत होना है (आदित्या स्याम), जिस के लिये इस सूक्त (ऋचा २) में यह कहा गया है कि, जो देवत्व तथा मर्त्यत्व में हमारी रक्षा करते हैं, उन मित्र, वरुण और वसुओं की अपने अन्दर क्रियाद्वारा दिव्य शांति तथा दिव्य सुख की वृद्धि करने से वह अवस्था आती है।

इन दो सूक्तों में अंगिरस ऋषियों का सामान्यत उल्लेख हुआ है, पर अन्य सूक्तों में हमें इन मानव पितरों का निश्चित उल्लेख मिलता है, जिन्होंने कि, सर्वप्रथम प्रकाश को खोजा था और विचार को और शब्द को अधिगत किया था और प्रकाशमान सुख के गुप्त लोकों की यात्रा की थी। उन परिणामों के प्रकाश में जिन पर कि, हम पहुंचे हैं, अब हम अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण संदर्भों का अध्ययन कर सकते हैं, जो कि गंभीर, सुन्दर तथा उज्ज्वल हैं और जिन में मानवीय पूर्वपुरुषों की इस महान् खोज का गान किया गया है। उन में हम उस महान् आशाका सारभूत वर्णन पायेंगे, जिसे कि वैदिक रहस्यवादी सदा अपनी आंखोंके सामने रखते थे, वह यात्रा, वह विजय प्राचीन आदिम प्राप्ति है, जिसे कि प्रकाशयुक्त पितरोंने अपने बाद आनेवाली मर्त्य जाति के लिए एक आदर्श के रूप में किया था। यह विजय थी, उन शक्तियों पर जो कि चारों ओर से घेर लेनेवाली रात्रि (रात्रि परितक्म्या) की शक्तियां हैं, वृत्र, शम्बर, वल हैं, ग्रीक गाथाशास्त्र के टाइटन, जायंट, पाइथन, (Titans, Giants, Pythons) हैं, अवचेतनाकी शक्तियां हैं, जो कि, प्रकाश और बल को अपने अन्दर, अपनी अन्धकार तथा अज्ञान की नगरियों के भीतर रोक लेती हैं, पर न तो इसे उचित प्रकार से उपयोग में ला सकती हैं, नहीं इन्हें मनुष्य को, मानसिक प्राणी को, देना चाहती

हैं। उन के अज्ञान, पाप और ससीमता को न केवल हमें अपने पास से काट कर दूर कर देना है, बल्कि उन्हें भेदन कर डालना है और भेदन कर के उन के अन्दर जा घुसना है, तथा उस में से प्रकाश, भद्र और असीमता के रहस्य को निकाल कर लाना है। इस मृत्यु में से उस अमरता को जीत लाना है। इस अज्ञान के पीछे एक रहस्यमय ज्ञान और सत्य का एक महान् प्रकाश बन्द पडा है। इस पापने अन्दर में अपरिमित भद्र को कैद कर रखा है, सीमित करनेवाली इस मृत्युमें असीम, अपार अमरता का बीज छिपा पडा है। ' वल ' उदाहरण के लिये, ज्योतियों का वल है, वलं गोमन्तम्, उस का शरीर प्रकाश का बना हुआ है, गोवपुषं वलम्, उस का बिल या उस की गुफा खजानों से भरा हुआ एक नगर है; उस शरीर को तोडना है, उस नगर को भेदन करके खोलना है, उन खजानों को हस्तगत करना है। यह कार्य है, जो कि मानवीयता के लिये नियत किया गया है और पूर्व पुरुषा इस कार्य को मानवजाति के लाभ के लिये एक वार कर चुके हैं, जिस से कि उसे करने का मार्ग पता लग जाय और फिर उन्हीं उपायों द्वारा तथा उसी प्रकार प्रकाश के देवताओं के साथ मैत्रीद्वारा लक्ष्य पर पहुंचा जा सके।

" वह पुरातन सख्यभाव तुम देवताओं के तथा हमारे बीच में हो जावे, जैसा कि तब था, जब उन अंगिरसों के साथ मिल कर जो कि, (शब्द को) ठीक प्रकार से बोलते थे, (हे इन्द्र !) तूने उसे च्युत कर दिया था, जो कि अच्युत था और हे कार्यों को पूर्ण करनेवाले ! तूने ' वल ' का वध कर दिया था, जब कि वह तुझ पर झपटा था और तूने उस के नगर के सब द्वारों को खोल डाला था *।" सभी मानवपरम्पराओं के उद्गम में यह प्राचीन स्मृति जुडी हुई है। यह ' इन्द्र ' तथा वृत्र-सर्प है, यह अपोलो, (Apollo) तथा पाइथन (Python) है, ये थॉर (Thor) तथा जायन्ट (Giants) हैं, सिगर्ड (Sigurd) और फाफ्नर (fafner) हैं, ये खाल्डियन गाथाशास्त्र के (Celtic mythology) के परस्पर विरोधी देवता हैं, पर केवल वेद में ही हमें इस रूपक की कुंजी उपलब्ध होती है, जिस रूपक में कि प्रागैतिहासिक मानवता की वह आशा या विद्या छिपी रखी है।

प्रथम सूक्त जिसे हम लेंगे, वह महान् ऋषि विश्वामित्र का सूक्त ३. ३९ है; क्योंकि वह हमें सीधा हमारे विषय के हृदय में ले जाता है। यह प्रारम्भ होता है, ' पित्र्या धीः ' अर्थात् पितरों के विचार के वर्णन से और वह विचार उस स्वःयुक्त (' स्वः ' वाले) विचार से भिन्न नहीं हो सकता, जिस का कि, अत्रियोंने गायन किया है, जो वह सात सिरोंवाला विचार है, जिसे अयास्यने नवग्वाओं के लिये खोजा था, क्योंकि इस सूक्त में भी विचार का वर्णन अंगिरसों, पितरों के साथ जुडा हुआ आता है। " विचार हृदय से प्रकट होता हुआ, स्तोम के रूप में रचा हुआ, अपने अधिपति इन्द्र की ओर जाता है ॐ।"

इन्द्र, हमारी स्थापना के अनुसार, प्रकाशयुक्त मन की शक्ति है, प्रकाश के तथा इस की विद्युत् के लोक का स्वामी है, शब्द या विचार सतत रूप से गौओं या स्त्रियों के रूप में कल्पित किये गये हैं, ' इन्द्र ' वृषभ या पति के रूपमें, और शब्द उसकी कामना करते हैं और इस रूप में उन का वर्णन भी मिलता है कि, वे उसे (इन्द्र को) खोजने के लिये ऊपर जाते हैं, उदाहरणार्थ देखो, ११९ गिरः प्रति त्वामुदहासत...वृषभं पतिम् । ' स्वः ' के प्रकाश से प्रकाशमय मन है लक्ष्य जो कि, वैदिक विचारद्वारा तथा वैदिक वाणीद्वारा चाहा गया है, जो विचार और वाणी प्रकाशों की गौओं को आत्मा से, अवचेतना की गुफा से जिस में कि वेद बन्द पडी थीं, ऊपर को धकेल कर प्रकट कर देते हैं, स्वः का अधिपति इन्द्र है वृषभ, गौओं का स्वामी, ' गोपतिः '।

ऋषि इस विचार के वर्णन को जारी रखता हुआ आगे कहता है, वह है " वह विचार जो कि जब व्यक्त हो जाता है, तब ज्ञान में जागृत हो कर रहता है, " पणियों की निद्रा के सुपुर्द अपने आप को नहीं करता, या आ-

---

* तव प्रत्नं सख्यमस्तु युष्मे इत्था वदद्भिर्वलमङ्गिरोभिः ।
हन्नच्युतच्युद्दस्मेषयन्तमृणोः पुरो वि दुरो अस्य विश्वाः ॥ (६।१८।५)

ॐ इन्द्रं मति हृद आ वच्यमानाच्छा पतिं स्तोमतष्टा जिगाति । (३।३९।१)

गृषि विंदथे शास्यमाना; " वह जो तुझ से (या तेरे लिये) पैदा होता है, हे इन्द्र ! उस का तू ज्ञान प्राप्त कर ×।" यह वेद में सतत रूप से पाया जानेवाला एक सूत्र है। देवता को, देव को उस का ज्ञान रखना होता है, जो कि मनुष्य के अन्दर उस के प्रति उद्बुद्ध होता है, उसे हमारे अन्दर ज्ञान में उस के प्रति जागृत होना होता है, (विद्धि, चेतथ इत्यादि), नहीं तो यह एक मानवीय वस्तु ही रह जाती है और यह नहीं होता है कि, वह " देवों के प्रति जाये, " (देवेषु गच्छति)। और उस के बाद ऋषि कहता है, " यह प्राचीन (या सनातन) है, यह द्युलोक से पैदा हुआ है; जब यह प्रकट हो जाता है, तब यह ज्ञान में जागृत रहता है सफेद तथा सुखमय वस्त्रों को पहिने हुए, यह हमारे अन्दर पितरों का प्राचीन विचार है ❀।" सेयमस्मे सनजा पित्र्या धीः।

और फिर ऋषि इस विचार के विषय में कहता है कि, वह " यमों की माता है, जो कि यहां यमों को जन्म देती है, जिह्वा के अग्रभाग पर यह उतरती है, और खडी हो जाती है, युगल शरीर पैदा होकर एक दूसरेके साथ संयुक्त हो जाते हैं और अन्धकार के घातक होते हैं और जाज्वल्यमान शक्ति के आधार में गति करते हैं +।" मैं यहां इस पर विचार-विमर्श नहीं करूंगा कि, ये प्रकाशमान युगल क्या हैं, क्योंकि इस से हम अपने उपस्थित विषय की सीमा से परे चले जायेंगे, इतना ही कहना पर्याप्त है कि, दूसरे स्थलों में उन का वर्णन अंगिरसों के साथ तथा अंगिरसों की उच्च जन्म की (सत्य के लोक की) स्थापना के साथ सम्बद्ध आता है और वे इस रूप में कहे गये हैं कि, वे युगल हैं, जिनमें कि इन्द्र अभिव्यक्त किये जानेवाले शब्द को रखता है। (१।८३।३), और वह जाज्वल्यमान शक्ति जिस के आधार में वे गति करते हैं, स्पष्ट ही सूर्य की शक्ति है, जो (सूर्य) अन्धकार का घातक है और इसलिए यह आधार और वह आधार एक ही हैं, जो कि सर्वोच्च लोक है, सत्य का आधार, ऋतस्य बुध्न, है, और अन्तिम बात यह कि, यह कठिन है कि, इन युगलों का उन के साथ बिल्कुल कुछ भी सम्बन्ध न हो, जो कि सूर्य के युगल शिशु हैं, यम और यमी,– यम जो कि दशम मण्डल में अंगिरस ऋषियों के साथ संबद्ध आता है। ❀

इस प्रकार अन्धकार के घातक अपने युगल शिशुओं-सहित पित्र्य विचार का वर्णन कर चुकने पर आगे विश्वामित्र उन पूर्व पितरों का वर्णन करता है, जिन्होंने सर्व प्रथम इसे निर्मित किया था और उस महान् विजय का जिस के द्वारा कि, उन्होंने " उस सत्य को, अन्धकार में पडे हुए सूर्य को " खोज निकाला था। " मर्त्यों में कोई ऐसा नहीं है, जो हमारे उन पूर्व पितरों की निन्दा कर सके (अथवा, जैसा कि, इस की अपेक्षा मुझे इस का अर्थ प्रतीत होता है कि, मर्त्यता की कोई ऐसी शक्ति नहीं है, जो उन पूर्व पितरों को सीमित या बद्ध कर सके।) जो हमारे पितर गौओं के लिए युद्ध करनेवाले हैं; इन्द्र जो कि महिमावाला है, इन्द्र जो कि महा-पराक्रम-कार्य को करनेवाला है, उसने उन के लिए दृढ बाडों को ऊपर की तरफ खोल दिया,– वहां जहां कि, एक सखाने अपने सखाओं के साथ, योद्धा नवग्वाओं के साथ घुटनों के बल गौओं का अनुसरण करते हुए, दस दशग्वाओं के साथ

× इन्द्र यत्ते जायते विद्धि तस्य।

❀ दिवश्चिदा पूर्व्या जायमाना वि जागृविर्विदथे शस्यमाना।
भद्रा वस्त्राण्यर्जुना वसाना सेयमस्मे सनजा पित्र्या धीः ॥ (३-३९-२)

+ यमा चिदत्र यमसूरसूत जिह्वाया अग्रं पतदा ह्यस्थात्।
वपूंषि जाता मिथुना सचेते तमोहना तपुषो बुध्न एता ॥ (३-३९-३)

❀ इन तथ्यों के प्रकाश में ही हमें दशम मण्डल में आये यम और यमी के संवाद को समझना चाहिये, जिस में कि बहिन अपने भाई से संयोग करना चाहती है, और फिर इसे आगामी युग की सन्ततियों के लिए छोड दिया गया है, जहां कि आगामी युगों का अभिप्राय वस्तुतः प्रतीकरूप कालपरिमाण से है, क्योंकि आगामी के लिये जो शब्द ' उत्तर ' आया है, उस का अर्थ आगामी के बजाय " उच्चतर " अधिक ठीक है।

मिलकर इन्द्रने उस सत्य को, 'सत्यं तद्,' पा लिया, सूर्य को भी जो अन्धकार में रह रहा था ×।"

यही है जगमगाती हुई गोओं की विजय का तथा छिपे हुए सूर्य की प्राप्ति का अलंकार जो कि, प्रायशः आता है, परन्तु अगली ऋचा में इस के साथ दो इसी प्रकार के अलंकार और जुड गये हैं और वे भी वैदिक सूक्तों में प्रायः पाये जाते हैं, वे हैं गौ का चरागाह या खेत तथा मधु जो कि, गौ के अन्दर मिला है। " इन्द्रने मधु को पा लिया जो कि जगमगानेवाली के अन्दर इकट्ठा किया हुआ था, गौके चरागाह ⁂ में पैरोंवाली तथा खुरोंवाली (दौलत) को ❀।" जगमगानेवाली 'उस्रिया' (साथ ही 'उस्रा' भी), एक दूसरा शब्द है जो कि, 'गो' के समान दोनों अर्थ रखता है, किरण तथा गाय और वेद में 'गो' के पर्यायवाची के तौर पर प्रयुक्त हुआ है। सतत रूप से यह हमारे सुनने में आता है कि, 'घृत' या साफ किया हुआ मक्खन गौ में रखा गया है, वामदेव के अनुसार वह वहां तीन हिस्सों में पणियों द्वारा छिपाया गया है; पर कहीं यह मधुमय घृत है और कहीं केवल मधु है, 'मधुमद् घृतम्' और 'मधु'।

हम देख चुके हैं कि, गौ की देन घी, और सोमलता की देन (सोमरस) अन्य सूक्तों में कैसी घनिष्ठता के साथ जुडे आते हैं और अब जब कि हम निश्चित रूपसे जानते हैं कि, गौका क्या अभिप्राय है, तो यह अद्भुत तथा असंगत लगनेवाला संबन्ध पर्याप्त स्पष्ट और सरल हो जाता है। 'घृत' का अर्थ भी चमकदार यह होना है, यह चमकीली गौ की चमकदार देन है, यह मनोवृत्ति में सचेतन ज्ञान का निर्मित प्रकाश है जो कि, प्रकाशमय चेतना के अन्दर सम्भृत (रखा हुआ) है और गौ की मुक्ति के साथ यह भी मुक्त हो जाता है; 'सोम' है आह्लाद, दिव्य सुख, दिव्य आनन्द जो कि सत्ता की प्रकाशमय अवस्था से भिन्न नहीं किया जा सकता और जैसे कि वेद के अनुसार हमारे अन्दर मनोवृत्ति के तीन स्तर हैं, वैसे ही घृत के तीन भाग हैं, जो कि तीन देवताओं सूर्य, इन्द्र और सोमपर आश्रित हैं और सोम भी तीन हिस्सों में प्रदान किया जाता है, पहाडी के तीन स्तरोंपर, 'त्रिषु सानुषु'।

इन तीनों देवताओं के स्वभाव का ख्याल रखते हुए हम यह कल्पना प्रस्तुत कर सकते हैं कि 'सोम' इन्द्रियाश्रित मनोवृत्ति (Sense mentality) से दिव्य प्रकाश को उन्मुक्त करता है, 'इन्द्र' सक्रिय गतिशील मनोवृत्ति (Dynamic mentality) से; 'सूर्य' विशुद्ध विचारात्मिका मनोवृत्ति (Pure reflective mentality) से। और गौ के चरागाहसे तो हम पहले से ही परिचित हैं; यह वह 'क्षेत्र' है जिसे कि इन्द्र अपने चमकीले सखाओं के लिये 'दस्यु' से जीतता है और जिस में कि अत्रिने योद्धा अग्नि को तथा जगमगाती हुई गौओं के देखा था, उन गौओं को जिन में वे भी जो कि बूढी थीं, फिरसे जवान हो गई थीं। यह खेत, 'क्षेत्र' केवल एक दूसरा रूपक है, उस प्रकाशमय घर (क्षय) के लिए जिस तक कि देवता यज्ञद्वारा मानवीय आत्मा को ले जाते हैं।

आगे विश्वामित्र इस सारे रूपक के वास्तविक रहस्यवादी अभिप्राय को दर्शाना आरंभ करता है। 'दक्षिणा से युक्त उसने (इन्द्रने) अपने दक्षिण हाथमें (दक्षिणे दक्षिणावान्) उस गुह्य वस्तु को थाम लिया, जो कि गुह्य गुहा में रखी थी और जलों में छिपी हुई थी। पूर्ण रूप से जानता हुआ वह (इन्द्र) अन्धकार से ज्योति को पृथक्

× नकिरेषां निन्दिता मर्त्येषु ये अस्माकं पितरो गोषु योधाः।
इन्द्र एषां दृंहिता माहिनावानुद् गोत्राणि ससृजे दंसनावान्॥
सखाह यत्र सखिभिर्नवग्वैरभिज्ञ्वा सत्वभिर्गा अनुग्मन्।
सत्यं तदिन्द्रो दशभिर्दशग्वैः सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम्॥ (३-३९-४-५)

⁂ नमे गोः। 'नम' बना है, 'नम्' धातु से जिस का अर्थ है चलना, घूमना, विचरना, ग्रीक में नेमो (Nemo) धातु है, 'नम' शब्द का अर्थ है, घूमने का प्रदेश, चरागाह, जो कि ग्रीकमें नेमोस (Namos) है।

❀ इन्द्रो मधु संभृतमुस्रियायां पद्वद्विवेद शफवन्नमे गोः॥

कर दे, ज्योतिर्वृणीत तमसो विजानन्, हम पाप की उपस्थिति से दूर हो जायें×।' वहां हमें इस देवी दक्षिणा के आशय को बतानेवाला एक सूत्र मिल जाता है, जो दक्षिणा कुछ संदर्भों में तो यह प्रतीत होती है कि वह उषा का एकरूप या विशेषण है और अन्य संदर्भों में वह यज्ञ में हवियोंका संविभाजन करनेवाली के रूपमें प्रतीत होती है।

उषा है दिव्य आलोक और दक्षिणा वह विवेचक ज्ञान जो कि, ' उषा ' के साथ आता है और मन की शक्ति को, इन्द्र को, इस योग्य बना देता है कि, वह यथार्थ को जान सके और प्रकाश को अन्धकार से, सत्य को अनृत से, सरल को कुटिल से विविक्त करके वरण कर सके, ' वृणीत विजानन् '।

इन्द्र के दक्षिण और वाम हाथ ज्ञान में उस की क्रिया की दो शक्तियां हैं, क्योंकि उस को दो बाहुओं को कहा गया है ' गमस्ति ' और ' गभस्ति ' एक ऐसा शब्द है, जिस का सामान्यतः तो सूर्य की किरण अर्थ होता है, पर साथ ही अग्रबाहु अर्थ भी होता है, और इन्द्र की ये दो शक्तियां अनुरूप हैं, उसकी उन दो बोधग्राहक शक्तियों के, उस के दो चमकीले घोडे, ' हरी, ' के, जो कि इस रूपमें वर्णित किये गये हैं कि, वे सूर्यचक्षु, 'सूरचक्षसा' हैं और सूर्य की दर्शन-शक्तियां (Vision powers) ' सूर्यस्य केतु ' है। दक्षिणा दक्षिण हाथ की शक्तिकी, ' दक्षिण ' की, अधिष्ठात्री है, और इसीलिये हम यह वर्णन पाते हैं कि, दक्षिणे दक्षिणावान्।

यही वह विवेक है, जो यज्ञ की यथातथ क्रियापर तथा हवियों के यथातथ संविभागपर अधिष्ठातृत्व करता है और यही है, जो इन्द्र को इस योग्य बना देती है कि, वह पणियों की झुंड में इकट्ठी हुई दौलतको सुरक्षित रूप से अपने दाहिने हाथ में थाम लेता है। और अन्त में हमें यह बतलाया गया है कि, यह रहस्यमय वस्तु क्या है, जो कि हमारे लिये गुफा में रखी गई थी और जो सत्ता के जलों के अन्दर छिपी हुई है, उन जलों के अन्दर जिन में कि, पितरों का विचार ' रखा जाना है, अप्सु धियं धिषे। यह है छिपा हुआ सूर्य, हमारी दिव्य सत्ता का गुप्त प्रकाश, जिसे कि पाना है और जिसे ज्ञान-द्वारा उस अन्धकार में से निकालना है, जिस में कि यह छिपा पड़ा है। यह प्रकाश भौतिक प्रकाश नहीं है, यह एक तो विजानन् शब्द से पता लग जाता है, क्योंकि इस प्रकाश की प्राप्ति होती है यथार्थ ज्ञान द्वारा और दूसरे इस से कि, इस का परिणाम नैतिक होता है, अर्थात् हम पाप की उपस्थिति से दूर हो जाते हैं, ' दुरितात्, ' शाब्दिक अर्थ लें तो विपरीत गति से, स्खलन से, जो कि हमारी सत्ता की रात्रि में हमें वश में किये रहते हैं, जब तक कि, सूर्य उपलब्ध नहीं हो जाता और जब तक दिव्य उषा उदित नहीं हो जाती।

एक बार यदि हमें वह कुंजी मिल जाती है, जिस से गौओं का, सूर्य का, मधु-मदिरा का अर्थ खुल जाये, तो अङ्गिरसों के कथानक की तथा पितरों के जो कार्य हैं, उन की सभी घटनाएं जो कि, वेदमन्त्रों की कर्म-काण्डिक या प्रकृतिवादी व्याख्या में ऐसी लगती हैं, मानो जहां-तहां के टुकडों को इकट्ठा जोडकर एक बिल्कुल असंगत-सी चीज तैयार कर दी गई हो और जो ऐतिहासिक या आर्य-द्रवीडियन व्याख्या में अत्यन्त ही निराशाजनक तौर पर दुर्घट प्रतीत होती हैं, इस के विपरीत पूर्णतया स्पष्ट तथा सम्बद्ध लगने लगती हैं और प्रत्येक दूसरी पर प्रकाश डालती हुई नजर आती है।

प्रत्येक सूक्त अपनी संपूर्णता के साथ तथा दूसरे सूक्तोंसे जो इस का संबन्ध है उस के साथ हमारी समझ में आ जाता है; वेद की प्रत्येक जुदा-जुदा पंक्ति, प्रत्येक सन्दर्भ, जहाँ-तहां बिखरा हुआ प्रत्येक संकेत मिल कर अनिवार्य रूप से और समस्वरता के साथ एक सामान्य संपूर्णता का समग्रता का अङ्गभूत दीखने लगता है। यहां यह हम जान चुके हैं कि, क्यों मधु को, दिव्य आनन्दको यह कहा जा सकता है कि, उसे गौ के अन्दर, सत्य के जगमगाते हुए प्रकाश के अन्दर रखा गया; मधु को धारण करनेवाली गौ का प्रकाश के अधिपति तथा उद्गमस्थान सूर्य के साथ क्या संबन्ध है; क्यों अन्धकार में पड़े हुए सूर्य की पुनः प्राप्ति का संबन्ध पणियों की गौओं को उस

× " गुहाहितं गुहां गूळहमप्सु हस्ते दधे दक्षिणे दक्षिणावान् ॥ "
" ज्योतिर्वृणीत तमसो विजानन्नारे स्याम दुरिताद‍भीके ॥ "

विजय या पुनः प्राप्ति के साथ है, जो अङ्गिरसोंद्वारा की जाती है; क्यों इसे सत्य की पुनः प्राप्ति कहा गया है; पैरोंवाली और खुरोंवाली दौलत का तथा गौ के खेत या चरागाह का क्या अभिप्राय है।

अब हम यह देखने लगे हैं कि, पणियों की गुफा क्या वस्तु है और क्यों उसे जो कि, 'वल' की गुहामें छिपा हुआ है, यह भी कहा गया है कि वह उन जलोंके अन्दर छिपा हुआ है, जिन्हें कि इन्द्र वृत्र के पंजे से छुडाता है, उन सात नदियोंके अन्दर छिपा हुआ है, जो नदियां अयास्य के सात सिरोंवाले स्वर्विजयी विचार से युक्त हैं; क्यों गुफा में से सूर्य के छुटकारे को, अन्धकार में से प्रकाश के पृथक्करण या वरण को यह कहा गया है कि, यह सर्व-विवेचक ज्ञानद्वारा किया जाता है; 'दक्षिणा' तथा 'सरमा' कौन हैं और इस का क्या अभिप्राय है कि, इन्द्र खुरों वाली दौलत को अपने दाहिने हाथ में थामता है। और इन परिणामों पर पहुंचने के लिए हमें शब्दों का अभिप्राय खींचतान करके नहीं निकालना है, यह नहीं करना है कि, एक ही नियत संज्ञा के जहां जैसी सुविधा होती हो, उस के अनुसार भिन्न भिन्न अर्थ मान लें, अथवा एक ही वाक्यांश या पङ्क्ति के भिन्न भिन्न सूक्तों में भिन्न भिन्न अर्थ कर लें अथवा असंगति को ही वेद में सही व्याख्या का मानदण्ड मान लें; बल्कि इस के विपरीत ऋचाओं के शब्द तथा रूप के प्रति जितनी ही अधिक सचाई बरती जायेगी उतना ही अधिक विशद रूप में वेद का सामान्य तथा ब्योरेवार अभिप्राय एक सतत स्पष्टता और पूर्णता के साथ प्रकट हो जायगा।

इस लिए हमें यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि, जो अभिप्राय हमारी खोजसे निकला है, उसे हम अन्य संदर्भों में भी प्रयुक्त करें, जैसे कि वसिष्ठ के सूक्त ७.७६ में, जिस की मैं अब परीक्षा करूंगा, यद्यपि जिस में ऊपर ऊपर से देखने पर केवल भौतिक उषा का एक आनन्द से पुलकित कर देनेवाला चित्र ही प्रतीत होगा। पर यह प्रथम छाप मिट जाती है जब कि, हम इस सूक्तकी परीक्षा करते हैं, हम देखते हैं कि, यहां सतत रूप से एक गम्भी-रतर अर्थ सूचित होता है और जिस क्षण हम उस चाबी का उपयोग करते हैं, जो हमें मिली है उसी क्षण वास्तविक अभिप्राय की समस्वरता दिखाई देने लगती है। यह सूक्त प्रारंभ होता है परम उषा के प्रकाश के रूप में सूर्य के उस उदय के वर्णन से जिस उदय को देवता तथा अंगिरस करते हैं।

'सविता, जो देव है, विराट् नर है, उस प्रकाश में ऊपर चढ गया है, जो प्रकाश अमर है और सब जन्मों-वाला है, ज्योतिरमृतं विश्वजन्यम्; (यज्ञ के) कर्म-द्वारा देवों की आंख पैदा हो गई है (अथवा, देवों की संकल्प-शक्तिद्वारा दर्शन (Vision) पैदा हो गया है), उषाने संपूर्ण लोक को (या उस सब को जो सद्रूप में आता है, सब सत्ताओं को, (विश्वं भुवनम्) अभि-व्यक्त कर दिया है। + ' यह अमर प्रकाश जिस में सूर्य उदित होता है, अन्य स्थलोंमें सच्चा प्रकाश, ऋतं ज्योतिः, कहा गया है; और वेद में सत्य तथा अमरता सतत रूप से सम्बद्ध पाये जाते हैं। यह है ज्ञान का प्रकाश जो सात सिरोंवाले विचार के द्वारा दिया गया, जिस विचार को कि अयास्यने पाया था जब कि वह 'विश्वजन्य' अर्थात् विराट् सत्तावाला हो गया था, इसीलिये इस प्रकाश को भी 'विश्वजन्य' कहा गया है, क्योंकि यह अयास्य के चतुर्थ लोक, 'तुरीयं स्विद्' से सम्बन्ध रखता है, जिस लोकसे शेष सब पैदा होते हैं और जिस के सत्य से शेष सब अपने विशाल विराट्रूप में अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं, अनृत और कुटिलता की सीमित अवधियों में नहीं रहते। इसी-लिये इसे यह भी कहा गया है कि, यह देवों की आंख है और दिव्य उषा है, जो कि संपूर्ण सत्तामात्र को अभि-व्यक्त कर देती है।

दिव्य दर्शन के इस जन्म का परिणाम यह होता है कि, मनुष्य का मार्ग उस के लिये अपने आप को प्रकट कर देता है तथा देवों की या देवों के प्रति की जानेवाली उन यात्राओं (देवयानाः) को प्रगट कर देता है, जो यात्राएं दिव्य सत्ता के अनन्त विस्तार की ओर ले जाती हैं। 'मेरे सामने देवों की यात्राओं के मार्ग प्रत्यक्ष हो

+ उदु ज्योतिरमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता देवो अश्रेत्।
क्रत्वा देवानामजनिष्ट चक्षुराविरकर्भुवनं विश्वमुषाः ॥ (ऋ. ७ ७६.१)

गये हैं, उन यात्राओंके जो कि हिंसा नहीं करती हैं, जिनकी गति वस्तुओं द्वारा निर्मित की गई थी । यह सामने उषा की आंख पैदा हो गई है और वह हमारे घरों के ऊपर (पहुंचती हुई) हमारी तरफ आ गई है ✱ । ' घर वेद में एक स्थिर प्रतीक है । उन शरीरोंके लिये जो कि, आत्मा के निवास-स्थान हैं, ठीक वैसे ही जैसे कि, खेत (क्षेत्र) या आश्रयस्थान (क्षय) से अभिप्राय होता है, वे स्तर जिन में कि आत्मा आरोहण करता है तथा जिनमें विश्राम करता है । मनुष्य का मार्ग वह मार्ग है, जिस पर कि, वह सर्वोच्च लोक में पहुंचने के लिये यात्रा करता है, और वह वस्तु जिसे कि देवों की यात्रायें हिंसित नहीं करतीं देवों की क्रियाएं हैं, जीवन का दिव्य नियम है, जिस में आत्मा को बढ़ना होता है, जैसा कि हम पांचवीं ऋचा में देखते हैं जहां कि इसी वाक्यांश को फिर दोहराया गया है ।

इस के बाद हम एक विचित्र आलंकारिक वर्णन पाते हैं, जो कि, आर्यों के उत्तरीय-ध्रुव-निवास की कल्पना को पुष्ट करता प्रतीत होता है । " वे दिन बहुतसे थे, जो सूर्य के उदय से पहले थे, (अथवा, जो सूर्य के उदय तक प्राचीन हो गये थे), जिन में कि हे उषा ! तू दिखाई पड़ी, मानो कि, अपने प्रेमी के चारों ओर घूम रही हो और तूने पुनः न आना हो × । " सचमुच ही यह ऐसी उषाओं का चित्र है, जो कि अविच्छिन्न हैं, जिनके बीच में रात्रि व्यवधान नहीं डालती, वैसी जैसी कि, उत्तरीय ध्रुव के प्रदेशों में दृष्टिगोचर होती हैं । अध्यात्मपरक आशय जो इस ऋचा से निकलता है, वह तो स्पष्ट ही है ।

ये उषायें क्या थीं ? ये वे थीं जो कि पितरों, प्राचीन अंगिरसों की क्रियाओं द्वारा रची गई थीं । " वे सचमुच देवों के साथ (सोम का) आनन्द लेते थे, ✲ वे प्राचीन द्रष्टा थे, जो कि सत्यसे युक्त थे, उन पितरोंने छिपी हुई ज्योति को पा लिया; सत्य विचार से युक्त हुए हुए (सत्यमन्त्राः, उस सत्य विचार से जो कि अन्तःप्रेरित वाणी (मंत्र) में अभिव्यक्त हुआ था), उन्होंने उषा को पैदा कर दिया ।⊛" और यह उषा, यह मार्ग, यह दिव्य यात्रा, पितरों को कहां ले गई ? समतल विस्तार में, ' समाने ऊर्वे, ' जिसे कि अन्य स्थलों में ' निर्बाध विस्तार ' नाम दिया गया है, ' उरौ अनिबाधे, ' जो स्पष्ट वही वस्तु है जो कि, वह विशाल सत्ता या विशाल लोक है, जिसे कण्व के अनुसार, मनुष्य तब रचते हैं, जब कि वे वृत्र का वध कर लेते हैं और द्यावापृथिवी के पार चले जाते हैं, यह है बृहत् सत्य तथा ' अदिति ' की असीम सत्ता ।

" समतल विस्तार में वे परस्पर संगत होते हैं और अपने ज्ञान को एक करते हैं, (अथवा पूर्णतया, ज्ञान रखते हैं) और परस्पर मिल कर प्रयत्न नहीं करते; वे देवों के कर्मों को कम नहीं करते (सीमित नहीं करते या क्षत नहीं करते), उन की हिंसा न करते हुए वे वसुओं (की शक्ति) द्वारा (अपने लक्ष्य की तरफ) गति करते हैं+।" यह स्पष्ट है कि, सात अंगिरस, चाहे वे मानव हों, चाहे दिव्य, ज्ञान, विचार, या शब्द के, सात-सिरों-वाले विचारके बृहस्पति के सात-मुखों-वाले शब्दके भिन्न भिन्न तत्वों को सूचित करते हैं और समतल विस्तार में आकर

✱ प्र मे पन्था देवयाना अदृश्रन्नमर्धन्तो वसुभिरिष्कृतासः ।
अभूदु केतुरुषसः पुरस्तात् प्रतीच्यागादधि हर्म्येभ्यः ॥ (ऋ. ७.७६.२)

× तानीदहानि बहुलान्यासन् या प्राचीनमुदिता सूर्यस्य ।
यतः परि जार इवाचरन्त्युषो ददृक्षे न पुनर्यतीव ॥ (ऋ. ७-७६ ३)

✲ मैं थोडी देर के लिये ' सधमाद ' के परम्परागत अर्थ को ही स्वीकार किये लेता हूं, यद्यपि मुझे यह निश्चय नहीं कि, यह अर्थ शुद्ध ही है ।

⊛ त इद्देवानां सधमाद आसन्नृतावानः कवयः पूर्व्यासः ।
गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्त्सत्यमन्त्रा अजनयन्नुषासम् ॥ (ऋ. ७-७६-४)

+ समान ऊर्वे अधि संगतासः सं जानते न यतन्ते मिथस्ते ।
ते देवानां न मिनन्ति व्रतान्यमर्धन्तो वसुभिर्यादमानाः ॥ (ऋ. ७ ७६-५)

वे एक विराट् ज्ञान में समस्वर हो जाते हैं; स्खलन, कुटिलता, असत्य जिन के द्वारा मनुष्य देवों के कर्मों की हिंसा करते हैं, तथा जिन के द्वारा उन की सत्ता, चेतना व ज्ञान के विभिन्न तत्त्व एक दूसरे के साथ अन्धे संघर्ष में जुट जाते हैं, दिव्य उषा की आंख या दर्शन (Vision) द्वारा परे हटा दिये जाते हैं।

सूक्त समाप्त होता है, वसिष्ठों की इस अभीप्सा के साथ कि, उन्हें वह दिव्य तथा सुखमयी उषा प्राप्त हो, जो कि गौओं की नेत्री है, तथा समृद्धि की पत्नी है और साथ ही जो आनन्द तथा सत्यों की (सूनृतानाम्) नेत्री है ×। वे उसी महाकार्य को करना चाहते हैं, जिसे पूर्व द्रष्टाओंने, पितरोंने, किया था, और इस से यह परिणाम निकलेगा कि, ये मानवीय अंगिरस हैं, न कि दिव्य। कुछ भी हो, अंगिरसों के कथानक का अभिप्राय इस के सब अंग-उपांगोंसहित नियत हो गया है, सिवाय इस के कि, पणि क्या हैं तथा सरमा कुतिया क्या है और अब हम इस ओर प्रवृत्त हो सकते हैं कि, चतुर्थ मण्डलके प्रारम्भ के सूक्तों में जो सन्दर्भ आते हैं, उन पर विचार करें, जिन में कि मानव पितरों का साफ-साफ उल्लेख हुआ है और उन के महान् कार्य का वर्णन किया गया है। वामदेव के ये सूक्त अंगिरसों के कथानक के इस अंग पर अत्यधिक प्रकाश डालनेवाले तथा इस दृष्टि से अत्यावश्यक हैं और अपने आप में भी वे ऋग्वेद के अधिक-से-अधिक रोचक सूक्तों में से हैं।

× प्रति त्वा स्तोमैरीळते वसिष्ठा उषर्बुधः सुभगे तुष्टुवांसः।
गवां नेत्री वाजपत्नी न उच्छोषः सुजाते प्रथमा जरस्व॥
एषा नेत्री राधसः सूनृतानामुषा उच्छन्ती रिभ्यते वसिष्ठैः। (ऋ. ७।७६।६,७)

सूर्यनमस्कार।

श्रीमान् बालासाहेब पंत, B. A., प्रतिनिधि, राजासाहब, रियासत औंधने इस पुस्तक में सूर्यनमस्कार का व्यायाम किस प्रकार लेना चाहिये, इससे कौनसे लाभ होते हैं, और क्यों होते हैं? सूर्यनमस्कार का व्यायाम लेनेवालोंके अनुभव; सुयोग्य आहार किस प्रकार होना चाहिये; योग्य और आरोग्यवर्धक पाकपद्धति, सूर्यनमस्कारों के व्यायाम से रोगोंको प्रतिबंध कैसा होता है, आदि बातोंका विस्तारसे विवेचन किया है पृष्ठसंख्या १२०, मूल्य केवल ॥) और डाक-व्यय ≈); दस आनेके टिकट भेजकर मंगाइये सूर्यनमस्कारों का चित्रपट साइज १०×१५ इंच, मूल्य -) ॥ डा० व्य० -)

मन्त्री- स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

हो, बड़े प्रबल शत्रु को भी हिला देते हो, स्थिर शत्रु को भी झुकाते हो। जब तुम चढाई करते हो, तब टापूतक गिर पड़ते हैं। अविचलित शत्रु को अपनी शक्ति से विकंपित करा देते हो। इनके आक्रमण के समय जमीन तक हिल उठती है।'

इस प्रकार ये वीर अपने प्रभाव से समूचे शत्रु को तहसनहस कर डालते हैं।

भव्य आकृतिवाले वीर।

मरुतों की आकृति बडी भव्य हुआ करती थी, इस विषय के वर्णन देखिये।

ये शुभ्राः घोरवर्पसः सुक्षत्रासो रिशादसः।
ऋ. ८।१०३।१४ (अग्निः २४४७)
सत्वान घोरवर्पसः। (१०९) ऋ. १।६४।२
मृगाः न भीमाः। (१९९) ऋ. २।३४।१

' ये वीर गौरवर्णवाले एवं भव्य शरीरों से युक्त हैं। ये अच्छे क्षत्रिय हैं और शत्रु का पूर्ण विनाश करनेवाले हैं। ये बलिष्ठ तथा बृहदाकार शरीरवाले हैं। सिंह की न्याईं ये भीषण दिखाई देते हैं।'

पीछे कहा जा चुका है कि, ये सभी युवकदशा में विद्यमान हैं। यह बात सबकी विदित है कि, सेनाओं में युवक ही भर्ती किये जाते हैं।

रक्तिमामय गौरवर्ण।

मरुतों के वर्णन से जान पडता है कि, ये गोरे बदनवाले पर तनिक लालिमामय आभासे युक्त थे। देखिये-

शुभ्राः। (७०), ऋ. ८।७।२५; (७३), ८।७।२८; (५९), ८।७।१४; (१२५), १।८५।३; (१७५), १।१६७।४
अरुणप्सव। (५२) ८।७।७

स्पष्ट हुआ कि, मरुत् गौरकाय थे, एवं लालिमापूर्ण छवि उन के शरीरों से फूट निकलती थी।

अपने तेज से चमकनेहारे वीर।

ये सदा अपने तेज से द्योतमान् हो उठते थे, ऐसा वर्णन उपलब्ध है।

ये स्वभानवः अजायन्त। (७), ऋ. १।३७।२
स्वभानवः धन्वसु श्रावाः। (२३७), ऋ. ५।५३।४
स्वभानवे वाचं प्र अनज। (२५०), ५।५४।१
त्वेषं मारुतं गणं वन्दस्व। (३५) १।३८।१५
ते भानुभिः वि तस्थिरे। (५३), ८।७।८
चित्रभानवः तविषीः अयुग्ध्वम्।
(११४) ऋ. १।६४।७
चित्रभानवः अवसा आगच्छन्ति।
(१३३) ऋ. १।८५।११
अहिभानवः मरुतः। (१९५) १।१७२।१
अग्निश्रियः मरुतः। (२१५) ३।२६।५

' ये वीर मरुत् अपने निजी तेज से प्रकट होते हैं। वे धनुर्ध्यों का आश्रय लेकर पराक्रम कर दिखलाते हैं। उन तेजस्वी वीरों का वर्णन करो। समूचे मरुतों का संघ तेजस्वी है। ये अपने तेज से विशेष ढंग से चमकते हैं। उन का तेज अनोखे ढंग से चमकता है। वे अग्नितुल्य तेजस्वी हैं और उन का तेज कभी न्यून नहीं होता।'

यह सारा वर्णन उन की तेजस्विता को ठीक तरह बतलाता है।

अन्न उत्पन्न करनेहारे वीर।

पहले कहा जा चुका है कि, [मरुतः विश्व-कृष्टयः। (२१५) ऋ ३।२६।५] मरुत् सभी किसान हैं। अतः स्पष्ट है कि धान्य का उत्पादन करना उन के अनेकविध कार्यों में अन्तर्भूत था। निम्न मंत्रांश देखनेयोग्य है—

वयः धातारः। (८०) ऋ. ८।७।३५
पिप्युषीं इषं धुक्षन्त। (४८) ऋ. ८।७।३
ते इषं अभि जायन्त। (१८४) ऋ. १।१६८।२
नमस इत् वृधासः। (१९४) ऋ. १।१७१।२
वयोवृधः परिज्रयः। ऋ. ५।५४।२

' मरुत् अन्न का धारण करते हैं, पुष्टिकारक अन्न का उत्पादन करते हैं। ये अन्न का उत्पादन करने के लिए ही उत्पन्न हुए हैं। ये अन्न की वृद्धि करनेवाले होते हुए वीर मरुत् चारों ओर घूमते रहते हैं।'

ऐसे वर्णन पाये जाते हैं, जिन से वीर-मरुतों का अन्नोत्पादन निर्दिष्ट होता है, अतः स्पष्ट है, ये सभी (कृष्टयः) याने कृषिकर्म में निरत काश्तकार हैं।

गायोंका पालन करते हैं ।

कृषक होने के कारण मरुत् खेती करते हैं, धान्य की उपज बढाते हैं, अन्नदान करते हैं, तथा गोपालन भी करते हैं । इस सम्बन्ध में देखिए-

वः गावः क्व न रण्यन्ति ? (२२) ऋ. १।३८।२

' तुम्हारी गौएँ भला किधर नहीं रँभाती हैं ? ' अर्थात् मरुतों की गौएँ हर जगह घूमती हैं और सहर्ष रँभाती हैं । इसी प्रकार-

इन्धन्वभिः रप्शदूधभिः धेनुभिः आगन्तन ।
(२०३) ऋ. २।३४।५

धेनुं ऊधनि पिप्यत । (२०४) ऋ. २।३४।६
पृश्न्याः ऊधः दुदुः । (२०८) ऋ. २।३४।१०

' तेजस्वी एवं प्रशंसनीय बडे बडे थनों से युक्त गौओं के साथ हमारे समीप आओ । गौके थन को दूधभरा कर डालो । उन्होंने गौके थन का दोहन किया । ' ऐसे वर्णन मरुत्सूक्तों में पाये जाते हैं । ये वीर गायको मातृवत् पूज्य समझते हैं । देखिए—

गां मातरं वोचन्त । (२३२) ऋ. ५।५२।१६

' गौ हमारी माता है, ' ऐसा वे कह चुके । गौ का दोहन कर के वे दूध पीते हैं और पुष्ट होते हैं ।

पृश्निमातरः ! वः स्तोता अमृतः स्यात् ।
(२४) ऋ. १।३८।४

पृश्निमातरः इषं धुक्षन्त । (४८) ऋ. ८।७।३
पृश्निमातरः उदीरते (६१) ऋ. ८।७।१७
पृश्निमातरः श्रियः दधिरे । (१२४) ऋ. १।८५।२
गोमातरः अञ्जिभिः शुभयन्ते । (१२५) ऋ. १।८५।३.

' गोमातर ' तथा ' पृश्निमातरः ' दोनों पदों का अर्थ गौ को माता माननेहारे और भूमि को माता समझनेवाले ऐसा हो सकता है । यहाँ दोनों अर्थ किए जा सकते हैं । कारण, ये वीर गोभक्त तो थे ही, लेकिन मातृभूमि की उपासना भी बडी लगन से किया करते थे । मातृभूमि की सेवा करनेके लिए ये हमेशा अपना प्राण निछावर करने को तैयार रहा करते थे । इनके वर्णन पढने से साफ साफ प्रतीत होता है कि, शत्रु को दूर हटाकर मातृभूमि की सुखी एवं संपन्न करने के लिए ही इनकी समूची शूरता, वीरता तथा धैर्य का उपयोग हुआ करता ।

चूँकि ये कृषक, खेती करनेवाले एवं अन्न की उपज बढानेहारे थे, इसलिये गौ की रक्षा करना इन के लिए अनिवार्य था, क्योंकि गौओं की उन्नति होने से कृषिकार्य के लिए आवश्यक, उपयुक्त बैलों की सृष्टि हुआ करती है ।

मरुतों के घोडे ।

मरुतोंके समीप बढिया, भली भाँति सिखाये हुए अच्छे घोडे थे । हमने देख लिया कि, वे गायों को रख लेते थे और गो-पालनविद्या में निष्णात थे । अब उन के अश्वों का विचार कर लेना चाहिए ।

वः अश्वाः स्थिराः सुसंस्कृताः । (३२) ऋ. १।३८।१२
हिरण्यपाणिभिः अश्वैः उपागन्तन ।
(७९) ऋ. ८।७।२७

वृषणश्वेन रथेन आ गत । (९१) ऋ. ८।२०।१०
आरुणीषु तविषीः अयुग्ध्वम् । (११४) ऋ. १।६४।७
वः रघुष्यदः सप्तयः आ वहन्तु । ऋ. १।८५।६
सः गणः पृषदश्वः । (१५१) ऋ. १।८८।१
ते अरुणेभिः पिशंगैः रथतूर्भिः अश्वैः आ यान्ति ।
(१५२) ऋ. १।८८।२

अत्यान् इव अश्वान् उक्षन्ते
आशुभिः आजिषु तुरयन्ते । (२०१) ऋ. २।३४।३

' तुम्हारे घोडे सुदृढ तथा सुसंस्कृत हैं । जिन घोडों के पैरों में सुवर्णजटित अलंकार डाले गये हों, ऐसे घोडों पर बैठकर इधर आओ । जिस में बलिष्ठ घोडे लगाये हों, ऐसे रथ से इधर आओ । लाल रंगवाली घोडियों में जो बलिष्ठ घोडियाँ हों, उन्हें ही रथ में जोतो । शीघ्र गतिवाले घोडे तुम्हें इधर ले आवें । इस मरुत्संघके समीप धब्बेवाले घोडे हैं । रक्तिम आभावाले तथा भूरे रंगवाले घोडों से रथ शीघ्र चलाकर तुम इधर आओ । घुडदौड में घोडे जैसे बलिष्ठ बनाये जाते हैं, वैसे ही तुम अपने घोडों को पुष्ट रखो । त्वरित जानेवाले घोडों से ये वीर लडाई में जल्दबाजी करते हैं, बहुत शीघ्र युद्ध में जाते हैं । '

इन वचनों में मरुतों के घोडों का पर्याप्त वर्णन है । ये घोडे लाल रंगवाले, भूरे, धब्बेवाले और बहुत बलवान होते हुए घुडदौड के घोडों के समान खूब चपल होते हैं ।

वे ठीक ठीक सिखाये हुए अतः सभी अच्छे गुणों से युक्त होते हैं। युद्धों में इन घोडों की चपलता दृष्टिगोचर हुआ करती है। इन वर्णनों से मरुतों के घोडों के सम्बन्ध में अनुमान करना कठिन नहीं है। और भी देखिए-

पृषद्श्वासः आ ववक्षिरे। (१०२) ऋ. २।३४।४
पृषद्श्वासः विदथेषु गन्तारः। (२१६) ऋ. ३।२६।६
अश्वयुजः परिज्रयः। (२९१) ऋ ५।५४।२
वः अश्वाः न श्रथयन्त। (२५९) ऋ. ५।५४।१०
सुयमेभिः आशुभिः अश्वैः ईयन्ते।
(२६५) ऋ ५।५५।१

मरुतः रथेषु अश्वान् आ युञ्जते। (१०६) ऋ. २।३४।८

' धब्बेवाले घोडे जोतकर वे वीर यज्ञों में या युद्धों में चले आते हैं। घोडे तैयार रख वे चहूँ ओर घूमते हैं। तुम्हारे घोडे थक नहीं जाते। स्वाधीन रहनेवाले एवं त्वरापूर्वक जानेवाले घोडों से वे यात्रा करते हैं। मरुत् वीर रथों में घोडे जोत लिया करते हैं। ' उसी प्रकार-

वः अभीशवः स्थिराः। (३२) ऋ. १।३८।१२

' तुम्हारे लगाम स्थिर याने न टूटनेवाले होते हैं। ' इन वचनोंसे पाठकवृन्द भली भाँति कल्पना कर सकते हैं कि, वीर मरुतों के घोडे किस ढंग के हुआ करते थे।

इन वीरों का बल।

मरुतों के सूक्तों में मरुतों के बल का उल्लेख अनेक बार पाया जाता है। कुछ मंत्रांश देखिए-

मारुतं बलं अभि प्र गायत। (६) ऋ. १।३७।१
मारुतं शर्धं उप ब्रुवे। (१९८) ऋ. २।३०।११
युष्माकं तविषी पनीयसी। (३७) ऋ. १।३९।२
वः बलं जनान् अचुच्यवीतन। गिरीन् अचुच्यवीतन। (१७) ऋ. १।३७।१२
उग्रबाहवः तनूषु नकिः येतिरे।
(९३) ऋ. ८।२०।१२

' मरुतों के बल का वर्णन करो; उन का सामर्थ्य सराहनीय है; उन का बल सारे शत्रुओंको हिला देता है, पहाडों को भी विकंपित करा देता है; इन का बाहुबल बडा भारी है और लडते समय वे अपने शरीरों की तनिक भी पर्वाह नहीं करते हैं। '

इस भाँति ये वीर बलिष्ठ और अपनी शरीररक्षा की तनिक भी पर्वाह न करते हुए लडनेवाले थे, अतएव बडा ही प्रभावोत्पादक युद्ध प्रवर्तित कर लेते थे। भय तो उन्हें कभी प्रतीत ही नहीं हुआ करता। निर्भयताके ये मूर्तिमान अवतार ही थे। निम्न मंत्रांश मरुतों के, मन को स्तिमित करनेवाले तथा दिलपर गहरा प्रभाव डालनेवाले, सामर्थ्य का स्पष्ट निर्देश करते हैं-

मरुतां उग्रं शुष्मं विद्म हि। (८४) ऋ. ८।२०।३
अमवन्तः महि श्रियं वहन्ति।
(८८) ऋ. ८।२०।७
शूराः शवसा अहिमन्यवः।
(११६) ऋ. १।६४।९
अनन्तशुष्माः तविषीभिः संमिश्लाः।
(११७) ऋ. १।६४।१०
ते स्वतवसः अवर्धन्त। (१२९) ऋ. १।८५।७
वः तानि सना पौंस्या। (१५७) ऋ १।१३९।८
वीरस्य प्रथमानि पौंस्या विदु।
(१६४) ऋ. १।१६६।७
नर्येषु बाहुषु भूरीणि भद्रा।
(१६७) ऋ. १।१६६।१०
वः शवसः अन्तं अन्ति आरात्ताच्चित् नहि नु आपु। (१८०) ऋ. १।१६७।९
तुविजाता दृळ्हानि अचुच्यवु।
(१८६) ऋ. १।१६८।४
धृष्णु-ओजसः गाः अपावृण्वत।
(१९९) ऋ. २।३४।१
ओजसा अद्रिं भिन्दन्ति। (२२५) ऋ. ५।५२।९
वः वीर्यं दीर्घं ततान। (२५४) ऋ. ५।५४।५

" मरुतोंके उग्र सामर्थ्यसे हम परिचित हैं; ये सामर्थ्यशाली होनेके कारण बडा भारी यश पाते हैं; ये शूर हैं और अपने अन्दर विद्यमान सामर्थ्य से ये हतोत्साह कभी नहीं बनते हैं; इनके सामर्थ्यों की कोई सीमा या अन्त नहीं, तथा इनकी शक्तियाँ भी बहुतसी हैं; अपने सामर्थ्य से ये बढते हैं; ये तो इनके हमेशा के पौरुषपूर्ण कार्यकलाप हैं; वीरोंके ये प्रारंभिक पौरुष हैं। इन वीरों के बाहुओं में बहुत से हितकारक सामर्थ्य छिपे पडे हैं, तुम्हारे बल का

अन्त समझ लेना, चाहे दूर से हो या समीप से, असंभव ही है। बल के लिए विख्यात ये वीर प्रबल दुश्मनों को भी विचलित कर देते हैं, डगमग हिला देते हैं; अपनी शक्तिसे ही तो इन्होंने शत्रुओं के बंधन से गौओं को छुडा दिया और ओजस्विता के कारण पहाडों को भी तोड डालते हैं; तुम्हारा सामर्थ्य बहुत दूर तक फैला है।"

इन मंत्रभागोंमें इन वीर मरुतों के प्रभावोत्पादक बल एवं सामर्थ्यका बखान किया हुआ पाठकों को दिखाई देगा, जो कि सचमुच मननीय है।

मरुतों की संरक्षणशक्ति।

वीर मरुत् बलवान एवं चतुर होते हुए जनताका संरक्षण करने का भार अपने ऊपर ले लेनेमें तत्परता दर्शाते हैं। इस संबध में आगे दिये हुये वाक्य देखने योग्य हैं-

(हे) मरुतः! अस्माभिः ऊतिभिः नः आगन्त।
(४४) ऋ. १।३९।९

ऊतये युष्मान् नक्तं दिवा हवामहे।
(५१) ऋ. ८।७।६

वृत्रतूर्ये इन्द्रं अनु आवन्। (६९) ऋ. ८।७।२४
सः व ऊतिषु सुभगः आस। (९६) ऋ. ८।२०।१५
ऊमासः रायः पोषं अरासत।
(१६०) ऋ. १।१६६।३

यं अभिह्रुतेः अघात् आवत, यं जनं
तनयस्य पुष्टिषु पाथन, तं शतभुजिभिः
पूर्भिः रक्षत। (१६५) ऋ. १।१६६।८
मरुतः अवोभिः आ यान्तु।
(१७३) ऋ. १।१६७।२

यः ऊती विप्रः। (१९५) ऋ. १।१७२।१
नः रिषः रक्षत। (२०७) ऋ. २।३४।९
त्वेषं अवः ईमहे। (२१५) ३।२६।५
ते यामन् त्मना आ पान्ति (२१८) ५।५२।२
ये मानुषा युगा रिषः आ पान्ति। (२२०) ५।५२।४
(हे) सद्य ऊतयः! द्रविणं यामि। (२६४) ५।५४।१५
यं त्रायध्वे सः सुवीरः असति। (२४८) ५।५३।१५

"हे वीर मरुतो! अपनी समूची संरक्षणशक्तियों से युक्त होकर तुम हमारे पास आओ; हमारे संरक्षण हों, इसलिए हम तुम्हें रातदिन बुलाते हैं; वृत्र का वध करते समय इन्द्र को तुमने मदद दी; वह तुम्हारी संरक्षण-छत्र-छाया में सौभाग्यशाली हो गया; संरक्षण करनेहारे इन वीरोंने धन की पुष्टि कर डाली; जिसे, तुमने विनाश और पाप से बचाया था और जिसे तुमने इस हेतु से बचाया था कि वह अपने पुत्रपौत्रों का संरक्षण भली भाँति कर ले, उसे तुम सैंकडों उपभोगसाधनों से परिपूर्ण गढों से सुरक्षित रख लेते; अपने संरक्षक साधनों से युक्त होकर मरुत् हमारे निकट आ जायँ; तुम्हारा संरक्षण बडा अनूठा है; हिंसकों से हमें बचाओ, हमें तुम्हारे तेजस्वी संरक्षण की आवश्यता है; वे हमला करते समय स्वयं ही रक्षा का प्रबंध कर लेते हैं; वे वीर सभी मानवी युगों में हिंसकों से बचाते हैं, हे तुरन्त बचानेवाले वीरों! मैं द्रव्य पाना चाहता हूँ, जिस की तुम रक्षा करते हो, वह उत्कृष्ट वीर बनता है।"

इस से स्पष्ट होता है कि, इन्द्र को भी मरुतों की मदद मिल चुकी थी और इसी तरह अन्य लोग भी मरुतों की सहायता से लाभ उठाते आये हैं। ध्यान में रहे कि, ये वीर अपनी शक्तियोंसे और संरक्षण की आयोजनाओंसे अविषमभाव से सब को सहायता देते हैं। कभी दुर्ग में रहते हुए तो कभी रथारूढ होकर यात्रा करते हुए स्वयं घटनास्थलपर उपस्थित रहकर ये रक्षार्थियोंको संरक्षण देते हैं। इन सूक्तों में निर्देश मिलता है कि, कइयोंको मरुतों की मदद मिल चुकी थी, जो कि इस दृष्टिकोण से देखनेयोग्य है। यहाँपर प्रमुख बात यही है कि, रक्षार्थी चाहे नरेश हो या साधारण मानव पर सभी समान रूपसे मरुतों की सहायता से लाभान्वित हो चुके हैं।

मरुतों की सेना।

मरुत् तो खुद ही सैनिक हैं। वे सातसात की पंक्ति बनाकर चला करते हैं और उनकी ऐसी कतारें ७ रहा करती हैं। सब मिलाकर ४९ सैनिकों का एक छोटा विभाग बन जाता। हर कतार में दोनों पार्श्वभागों के लिए दो पार्श्वरक्षक नियुक्त होते थे। सात पंक्तियों के १४ पार्श्वरक्षक रहते। सैनिक ४९ और १४ पार्श्वरक्षक मिलाकर ६३ मरुत् एक छोटे से संघ में पाय जाते। ६१ इतोंके

इस संघ को ' शर्ध ' नाम दिया गया है। (६३ × ७) = ४४१ सैनिकों का अथवा ७ शर्धोंका एक ' व्रात ' और (६३ × १४) = ८८२ सैनिकों या १४ शर्धों का या दो व्रातों का एक ' गण ' हुआ करता। इस प्रकार इन सैनिकों की यह संघसंस्था है, जो ऐसी बनी हुई है कि, इस में क्या न्यून या अधिक है, सो अन्य प्रमाणों से ही निर्धारित करना ठीक होगा। इस दृष्टि से मंत्रोंमें पाये जानेवाले इन शब्दों का मर्म जानना चाहिये। अस्तु, मरुतों की सेना के बारे में निम्नलिखित वचन देखिये–

रथानां शर्धं प्रयन्ति। (२४३) ऋ. ५।५३।१०

' तुम्हारे सत्य के लिये लडनेवाले सैनिकों को प्राप्त करें। तुम्हारे शर्ध और गणविभागों के पीछे हम खुद ही चलते हैं; वे वीर रथों के विभाग को पहुंचते हैं। '

इस स्थानपर सिपाहियों के विभाग को सूचित करनेवाले ' शर्ध तथा गण ' दो पद पाये जाते हैं। इन सैनिकों का प्रभाव किस ढंग का बना रहता है, सो देख लीजिए–

वः अमाय यातवे द्यौः उत्तरा जिहीते।

(८७) ऋ. ८।२०।६

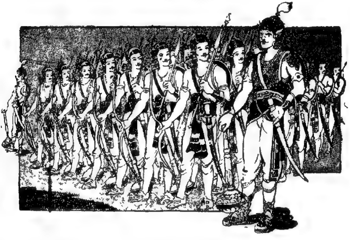

मरुतों का एक संघ।

पृश्निः मरुतां त्वेषं अनीकं असूत।

(१९१) ऋ. १।१६८।९

' मातृभूमिने मरुतों के इस तेजस्वी सैन्य को उत्पन्न किया ' अर्थात् यह सेना मातृभूमि के लिये ही अस्तित्व में आती है और इस सेनाका भली भाँति संगठन हो चुकने पर मातृभूमि तथा उस के सभी पुत्रों याने समूची जनता का संरक्षण करने का गुरुतर कार्यभार इस के हाथोंमें सौंप दिया जाता है। देखिए–

यः ऋतस्य शर्धान् जिन्वत। (६६) ऋ. ८।७।२१

वः शर्धंशर्धं गणंगणं अनुक्रामेम

(२४४) ऋ. ५।५३।११

' तुम्हारे सैनिक आगे बढ चलें, इस हेतु आकाश ऊँचा ऊँचा हो जाता है। ' इस तरह खुद आकाश ही इस सेना को आगे निकल जाने के लिये मुक्त मार्ग बना देता है। मरुत् सेनाका प्रभाव इतना सर्वंकष और प्रमाथी है। जिस किसी दिशा में यह सेना चली जाए, उधर इसे रुकावट नहीं महसूस करनी पडती है और प्रगति के लिये मार्ग खुला दीख पडता है। यह सब कुछ प्रभावशाली शौर्य का ही नतीजा है।

विजयी वीर।

वे वीर सर्वत्र विजयी बनते हैं, तथा इनका प्रभाव भी बडा ही प्रचंड है। इस विजय के कारण इनकी सेना में

एक तरह की अनोखी शोभा फैलती है-

अनीकेषु अधि श्रियः। (९३) ऋ. ८।२०।१२

' इन के सैनिकों के मोर्चेपर विशेष शोभा या विजयश्री रहती ही है ' अर्थात् इनकी सेनामें इतना प्रभाव विद्यमान रहता है कि, निश्चय से विजयश्री मिलेगी, ऐसा कहा जा सकता है।

धारावरा. गाः अपावृण्वत। (११९) ऋ. २।३४।१

' युद्ध के मोर्चेपर-अग्रभाग पर-अवस्थित हो श्रेष्ठ ठहरे हुए वीर शत्रु के कारागृह से गौओंको छुड़ा देते हैं। ' ये वीर—

ग्रामजितः अस्वरन्। (१५७) ऋ. ५।५४।८

' शत्रु से गाँव जीत लेनेपर बड़ी भारी गर्जना करते हैं। ' यह निस्सन्देह विजय पाने की गर्जना या दहाड़ है।

(हे) जीरदानवः ! युष्माकं रथान् अनुदधे।
(२३८) ऋ. ५।५३।५

जीरदानवः ! पृथिवी मरुद्भ्यः प्रवत्वती।
(२५७) ऋ ५।५४।८

जीरदानवः ! आ ववक्षिरे। (१०२) ऋ. २।३४।४

' शीघ्र विजय पानेहारे वीरो ! तुम्हारे रथों के पीछे मैं चलता हूँ, मैं तुम्हारा अनुसरण करता हूँ, पृथिवी मरुतों के लिए सरल और सीधा मार्ग बना देती है। '

चाहे जिधर ये मरुत् चले जायँ, उन्हें कहीं भी विघ्न-बाधा या अड़चनरोकें नहीं रहती। इन के मार्ग पर के सभी ऊबड़खाबड़ स्थान, बीहड़ पहाड़ या टीले दूर हुआ करते और ये वीर इच्छित स्थानतक इतनी आसानी से जा पहुँचते हैं कि, मानों ये सभी सीधी राहपर से जा रहे थे।

शत्रुओं का विध्वंस।

इन मरुतों का एक प्रमुख कार्य अर्थात् ही शत्रुओं का विनाश करना है और इन के वर्णनपरक सूक्तों में इस का बखान हर जगह किया है। इस सम्बन्ध के मंत्रांश अब देखिए-

रिशादसः ! वः शत्रुः न विविदे।
(३९) ऋ १।३९।४

रिशादसः। (२१२) ऋ. १।६४।५

' ये शत्रु को समूल विध्वस्त करनेहारे वीर सैनिक हैं, अतः इन्हें ' शत्रुभक्षक = (रिश-अदस्)' कहा है। ये शत्रु को मानों खा जाते हैं, अतः कोई शत्रु शेष नहीं रहने पाता। ये कहीं भी गमन करें, पर शायद ही इन्हें किसी एकाध जगह दुश्मन मिले।

विश्वं अभिमातिनं अपबाधन्ते।
(१९५) ऋ. १।८५।३

तं तपुषा चक्रिया अभिवर्तयत, अशसः
वधः आ हन्तन। (२०७) ऋ २।३४।९

' ये वीर समूचे दुश्मनों को मार भगाते हैं, हे वीरो! तुम दुश्मन को परिताप देनेहारे पहियेदार हथियार से घेर लो और पेटू शत्रु का विध्वंस करो। '

इस भाँति, पूरी तरह शत्रु को मटियामेट कर देने की जो क्षमता वीर मरुतों में है, उस का जिक्र वेदके सूक्तों में पाया जाता है।

दुश्मनों को रुलानेवाले वीर।

मरुतों को रुद्र भी कहा है, जिसका आशय है, (रोदयति इति) रुलानेवाला याने दुरात्मा एवं दुर्जन शत्रुओं को रुलानेवाला। चूँकि ये शूर तथा शत्रुदल का संपूर्ण विध्वंस करनेवाले हैं, इसलिए यह नाम बिलकुल सार्थक जान पड़ता है। देखिए—

(हे) रुद्राः ! तविषी तना अस्तु।
(३९) ऋ १।३९।४

इस के अतिरिक्त (४२) ऋ. १।३९।७, (५७) ऋ. ८।७।१२ (८३) ऋ. ८।२०।२, (१५९) ऋ. १।१६४।२, (१०७) ऋ. २।३४।९ इन में तथा इसी भाँति के अनेक मंत्रों में मरुतों को ' रुद्र ' नाम से पुकारा है। बेशक, यह शब्द उन की प्रचंड वीरता को व्यक्त करता है।

मरुतों की सहनशक्ति।

ध्यान में रहे कि, दो प्रकार का सामर्थ्य वीरों में पाया जाता है। जब वीर सैनिक शत्रुदल पर आक्रमण का सूत्रपात कर दें, तो उस तीव्र हमले को बरदाश्त न कर सकने के कारण शत्रुसेना छिन्न हो जाए। इसे ' असह्य ' सामर्थ्य कहना चाहिए और दूसरा भी एक सामर्थ्य इस किस्म का होता है कि, दुश्मन चाहे कितना ही प्रबल

इसका बढाना शुरू करे, लेकिन अपनी जगह अटल एवं अडिग रूप से रहना और अपना स्थान किसी तरह न छोड देना, सम्भव होता है। यह सामर्थ्य ' सह या सह-मान ' पदों से सूचित किया जाता है। यह भी मरुतों में पूर्णरूपेण विद्यमान है। देखिए–

मुष्टिहा इव सहाः सन्ति। (१०१) ऋ. ८।२०।२०

' मुष्टियुद्ध खेलनेवाले वीर की तरह ये सभी वीर सहनशक्ति से युक्त हैं। ' यह सुतरां आवश्यक है कि, वीरों में सहिष्णुता पर्याप्त मात्रा में रहे, क्योंकि उन्हें विभिन्न तथा प्रतिकूल दशाओं में भी अविचल रूप से डटे रहकर कार्य करना पडता है। शीतोष्ण सहिष्णुता याने कडाके का जाडा और झुलसानेवाली धूप बरदाश्त करना पडता, वैसे ही शत्रु के तीव्रतम आघातों की पर्वाह न करते हुए डटे रहने की भी जरूरत होती है। इस तरह कई ढंग से सहनशक्ति काम में लाई जा सकती है।

ये वीर पर्वतों में घूमा करते।

पहाडों में संचार करने, बीहड जंगलों में घूमने आदि कार्यों से और व्यायाम से शरीर सुदृढ तथा कष्टसहिष्णु बनता है। इसीलिए वीर सैनिक पार्वतीय भूविभागों में चक्कर फिरते हैं, इस विषय में निम्न निर्देश देखिए–

पर्वतेषु वि राजथ। (४६) ऋ. ८।७।१
वनिनं इवसा गृणीमसि। (११९) ऋ. १।१४।१२

' वीर मरुत् पहाडों में जाते हैं और वहाँ सुहाते हैं, वनों में गये हुए मरुद्गणों का वर्णन करता हूँ। ' ऐसे इन के वर्णन देखने पर यह स्पष्ट होता है कि, ये वीर पर्वतों तथा सघन वनों में संचार किया करते थे। वीरों को और विशेषतया सैनिकों को इस प्रकार का पर्वतसंचार करना बहुत हितकारक तथा आवश्यक होता है। क्योंकि ऐसा करने से कष्टसहिष्णुता बढ जाती है।

स्वयंशासक वीर।

ये वीर स्वयं ही अपना शासन करनेवाले हैं। इन पर अन्य किसी का शासन प्रस्थापित नहीं हुआ था। इस बात का निर्देश करनेवाले मंत्रांश नीचे दिये हैं।

अराजिनः वृष्णि पौंस्यं चक्राणाः
वृत्रं पर्वशः वि ययुः। (९८) ऋ. ८।७।२३

' वे अराजक वीर बडा भारी पौरुष करते हुए वृत्र के टुकडे टुकडे कर चुके। ' मरुतों के लिए यहाँ पर 'अ-राजिनः ' पद आया है। जिन में राजा का अभाव हो, वे ' अ-राजिनः ' कहलाते हैं। आज भी भारत में राज-विहीन जातियाँ पाई जाती हैं, जिन में एक प्रमुख शासक नहीं रहता, अपितु समूची जाति ही अपने शासन का प्रबन्ध आप कर लेती है, जिसे महाराष्ट्र में ' दैव ' कहते हैं। अर्थात् सारी जाति ही जाति का शासन करती है। जिन गिरोहों में ऐसा प्रबन्ध नहीं रहता उन में कोई न कोई एक नियन्ता या शासक के पद पर अधिष्ठित रहता है और ऐसे मानवसमूहों को ' राजिक ' याने राजा से युक्त कहते हैं। जिन मानवसमुदायों में राजसंस्था का अभाव हो, वे स्वयंशासित हुआ करते, इसीलिए इन्हें 'स्व-राजः' ऐसा भी कहते हैं।

ये आश्वश्वा अमवत् वहन्ते
उत ईशिरे अमृतस्य स्वराजः॥
(२९२) ऋ. ५।५८।१

अस्य स्वराजः मरुतः पिबन्ति॥
(३९८) ऋ. ८।९४।४

' वे खुद ही अपना शासन करनेवाले मरुत् जल्द जानेवाले घोडों पर बैठकर आते हैं और अमृतत्व के अधि-पति हैं, ये स्वयंशासक मरुत् इस सोम के रसका आस्वाद लेते हैं। ' यहाँ पर ' स्वराज ' पद का अर्थ है, स्वयंशासक या अपने निजी प्रकाश से शोभमान। ये स्वयं ही अपने ऊपर शासन चला लेते थे, इस विषय में दूसरे वचन देखिए–

स हि स्वसृत् युवा गणः।
तविषीभिः आवृतः अया ईशानः॥
(१४८) ऋ. १।८७।४

ईशानकृत। (११९) ऋ. १।६४।५

' यह युवक मरुतोंका संघ अपनी निजी प्रेरणासे चलने-वाला और विविध शक्तियों से युक्त है, इसीलिये यह समूह (ईशानः) स्वयं अपना ईश है, अर्थात् खुद ही शासक बना हुआ है; ये वीर शासकों का सृजन करनेवाले हैं। ' यह बडे ही महत्त्व की बात है कि, जो विविध सामर्थ्यों से युक्त तथा स्वयंप्रेरक होता है, वह स्वयं ही अपना प्रभु

बनता है और शासकों का सृजन करता है, मतलब यही कि, उस पर अन्य कोई प्रभुत्व नहीं रख सकता, क्योंकि उसमें इतनी क्षमता विद्यमान है कि राजा का निर्माण कर ले। ये वीर अपना नियन्त्रण स्वय ही कर लेते हैं।

स्वयतास॰ प्र अभ्रजन् (१६१) ऋ १।१६६।५

' ये खुद ही अपना नियमन करते हैं और दुश्मनोंपर वेगपूर्वक हमला चढाते हैं। '

इस भाँति यह सिद्ध हुआ कि मरुत् गणदेव हैं याने इन में गणशासन प्रचलित है और कोई एक व्यक्ति इन का शासन नहीं करता है, लेकिन ये सभी मिलकर इन्द्र को सहायता पहुंचाते हैं। वैदिक साहित्यमें मरुतोंके सिवा अन्य कई गणदेव पाये जाते हैं उदाहरणार्थ, वसु, रुद्र, आदित्य आदि जिन का विचार उस उस देवताके प्रसग में किया जायगा। यहाँपर तो हमें सिर्फ मरुतों का ही विचार करना है।

मरुत्-गण का महत्त्व।

वैदिक वाङ्मय में मरुद्गण का महत्त्व बताने के लिये खूब बढा चढा वर्णन किया है। देखिए-

तं महिमानं आशत। (१२४) ऋ १।८५।२

ते स्वयं महित्वं पनयन्त। (१४७) ऋ १।८७।३

ये मह्वा महान्त। (१६८) ऋ १।१६६।११

एषा मरुता सत्य महिमा अस्ति।

(१७८) ऋ १।१६७।७

महान्त विराजथ। (२६६) ऋ ५।५२।२

' ये वीर मरुत् बडप्पन को प्राप्त होते हैं वे स्वय ही अपने कार्य से बडप्पन पाते हैं, वे अपने निजी बडप्पनसे महान हो चुके हैं, इन मरुतों का बडप्पन सत्य है, बडे होकर वे प्रकाशमान हुए हैं। '

ध्यान में रहे कि वैदिक सूक्तों में इनके महत्त्व की जो मान्यता मिल चुकी है, वह केवल इनके शूरतापूर्ण विविध पराक्रमी कार्यकलाप के कारण ही है।

अच्छे कार्य करते हैं।

यह विशेष प्रेक्षणीय बात है कि, ये वीर मरुत् हमेशा शुभ कार्य करने के लिए बडे सतर्क रहा करते, देखिए—

यत् ह शुभे युञ्जते। (१४७) ऋ १।८७।३

शुभे कं आयान्ति। (१५१) ऋ. १।८८।२

शुभे संमिश्ला। (२१४) ऋ ३।२६।५

शुभे रमना प्रयुञ्जत। (२२४) ऋ ५।५२।८

शुभं याता रथा अन्ववृत्सत। (२५७) ऋ ५।५५।८

' ये वीर शुभ कार्य करने के लिए सज्ज होते हैं; ये वीर शुभ कृत्य तथा श्रेष्ठ कल्याण करने के लिए ही आते हैं शुभ कार्य पूरा करने के लिए ये इकट्ठे हुए हैं, ये खुद ही अच्छे कार्य के लिए जुट जाते हैं, शुभ कार्यसमाप्ति के लिए जब ये जाते हैं, तब इनके रथ पीछे चल पडते हैं। '

शुभ कार्यसे तात्पर्य है, जनताका कल्याण हो ऐसा कार्य जिसे कर्तव्य समझ कर ये वीर करने लगते हैं, देखिए—

तृणस्कन्दस्य विशः परिवृङ्क्त न ऊर्ध्वान् कर्त।

(१९७) ऋ १।१७२।३

' तिनके की नाईं यूहीं विनष्ट होनेवाले प्रजाजनों की रक्षा चारों ओरसे कीजिये और हमारी प्रगति कीजिए। ' साधारणतया बात तो ऐसी है कि, जनता तिनके के समान बिखरी हुई होने से आसानी से विनष्ट हो सकती है, पर जिस तरह बिखरे तिनकों को एक जगह बाँध लेनेसे एक रस्सा बनता है जो हाथी को भी जकडता है, वैसे ही प्रजा में भी ऐसी शक्ति है, परन्तु अगर वह बिखर जाए, तो विनष्ट होती है। इन प्रजाजनों का विनाश न हो, इसलिए उन्हें पूर्णतया वेष्टित कर एकता के सूत्र में पिरोने से उनकी प्रगति करना सुगम होता है और वही शुभ कार्य है। इसी प्रकार-

नृषाच मरुत। (११६) ऋ १।६४।९

' मानवों के साथ रहकर उनकी सहायता करनेवाले वीर मरुत् हैं। ' शूर वीरों का यही श्रेष्ठ कर्तव्य है कि वे मानवों के निकटतम संपर्क में रहे और उन्हें प्रगति का मार्ग दर्शाये। चूँकि ये वीर मरुत् अपना कर्तव्य पूर्ण करते हैं, इसीलिए इनके महत्त्व का वर्णन वेद में हुआ है।

शत्रुदल से युद्ध।

मरुत् (मर्-उत्) मरनेतक, मौतके मुँह में समाने जानेतक डटकर शत्रुसेना से जूझते हैं अथवा (मा-रुद्-मरुत्) रोने चिल्लाने के बजाय प्रतिकार करने में अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। इसी कारण से वे [illegible]

Surya Namaskars

(Sun-Adoration)

YOU whether rich or poor, old or young, always need Health.

"Surya Namaskars" by Rajasaheb of Aundh, is the only book that reveals to you the secret of securing Health.

"Surya Nâmaskars" has been translated into all the principal languages of India and Europe, by learned Pandits of their own accord.

This fact alone will convince you of the inherent worth (merit) of the book "Surya Namaskars."

It is the Fifth Edition, improved and enlarged. With its 198 + vii pages, 30 full-page illustrations and copious index, it can be had for RUPEE ONE ONLY, Postage As. 6 extra.

An Illustrated Wall-chart can be had for Two Annas only.

The Book as it now appears is a call to arms to secure for you the high standard of health, which is your birth-right.

Sole Agents—

Swadhyaya Mandal, Aundh (Dist Satara)

A Bibliography of the Ramayana

By

Prof *N A Gore*, M A, S P College, POONA.

Price Re. 1-8-0

An indispensable book for the students of the Valmiki Ramayan It gives detailed information about the various Text editions, Translations, Epitomes and Abridgements of the Ramayana nd Books and Papers on the Ramayana in many Indological Journals with very useful extracts from the most important Books and Papers It also contains Indexes of Proper names and Subjects.

Very useful for the B A Sanskrit students appearing at the 1943 examination.

The Copies can be had from- (1) The Author. (2) The Poona Oriental Agency, 15 Shukrawar, Poona. (3) The Swadhyaya Mandal, Aundh. (4) The Popular Book Depot, Bombay. Only a limited number of copies are printed. Order your copy NOW.

Regd. No. B. 1463

संपूर्ण महाभारत ।

अब संपूर्ण १८ पर्व महाभारत छाप चुका है। इस सजिल्द संपूर्ण महाभारतका मूल्य ६५) रु. रखा गया है। तथापि यदि आप पेशगी म० आ० द्वारा संपूर्ण मूल्य भेजेंगे, तो यह ११००० पृष्ठोंका संपूर्ण, सजिल्द, सचित्र ग्रन्थ आपको रेलपार्सल द्वारा भेजेंगे, जिससे आपको सब पुस्तक सुरक्षित पहुचेंगे। आर्डर भेजते समय अपने रेलस्टेशनका नाम अवश्य लिखें। **महाभारतका** नमूना पृष्ठ और सूची मंगाईये।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस '**पुरुषार्थबोधिनी**' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गयी है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस '**पुरुषार्थ-बोधिनी**' टीका का मुख्य उद्देश है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागों में विभाजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० ९) रु० डाक व्यय १॥) म० आ० से ९) रु० भेजनेवालोंको डाकव्यय माफ होगा।

भगवद्गीता-समन्वय ।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है। '**वैदिक धर्म**' के आकार के १२५ पृष्ठ, चिकना कागज मू० १) सजिल्द का मू० १॥) रु०, डा० व्य० ।=)

भगवद्गीता-श्लोकार्धसूची ।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकारादिक्रमसे **आद्याक्षरसूची** है और उसी क्रमसे **अन्त्याक्षरसूची** भी है। मूल्य केवल ।=), डा० व्य० =)

आसन ।

'योग की आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति'

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यंत सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्यभी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २) दो रु० और डा० व्य० ।≈) सात आना है। म० आ० से २।≈) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट- २०''×२७'' इंच मू० ≈) रु., डा. व्य. -)

मंत्री-स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि०सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध